Reg. No. 124726035RC0001 ISSN : 2562-6086

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

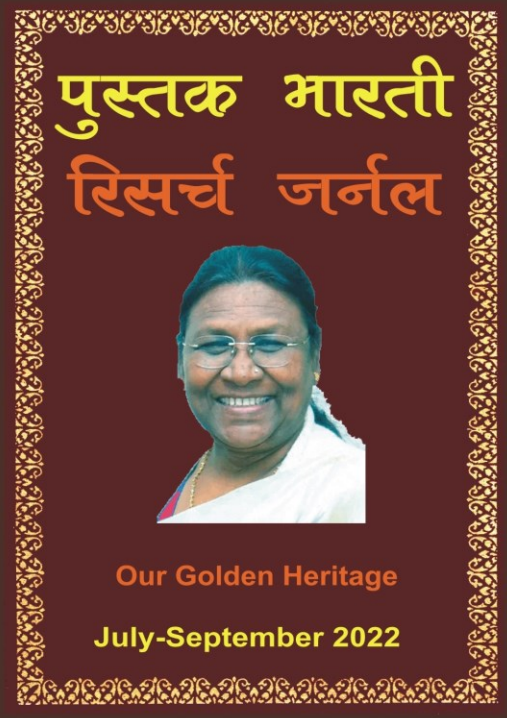

July-Sept. 2022
Pustak Bharati, Toronto, Canada

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

PUSTAK BHARATI RESEARCH JOURNAL

A Peer Reviewed Journal

त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष- 4, जुलाई -सितंबर, 2022, अंक – 3

प्रधान संपादक : डॉ. रत्नाकर नराले

सह संपादक : डॉ. राकेश कुमार दूबे

रिव्यू कमेटी

डॉ. प्रो. तंकमणि अम्मा, तिरुवनन्तपुरम्
प्रो. हेमराज सुंदर, मारीशस
डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय, मुंबई
प्रो. डॉ. शांति नायर, केरल
डॉ. सिराजुद्दिन नुर्मतोव, उजबेकिस्तान
प्रो. दक्ष्य मिस्त्री, बड़ोदा
प्रो. कृष्ण कुमार मिश्र, मुंबई

संपादक मण्डल

प्रो. सोमा बंद्योपाध्याय, पश्चिम बंगाल
प्रो. अरुणा सिन्हा, वाराणसी
प्रो. विनोद कुमार मिश्र, त्रिपुरा
प्रो. उमापति दीक्षित, आगरा
प्रो. उपुल रंजीथ हेवावितानागामगे, श्रीलंका
डॉ. मैरम्बी नुरोवा, ताजिकिस्तान
प्रो. दर्शन पाण्डेय, दिल्ली

परामर्ष मण्डल

डॉ. तुलसीराम शर्मा, कनाडा
डॉ. मनोज कुमार पटैरिया, नई दिल्ली
डॉ. एन. के. चतुर्वेदी, जोधपुर
प्रो. नीलू गुप्ता, अमेरिका
डॉ. मृदुल कीर्ति, आस्ट्रेलिया
प्रो. कमलेश शर्मा, कोटा

संरक्षक मण्डल

डॉ. यशवंत पाठक, अमेरिका
श्री रतन पवन, अमेरिका
श्री पंकज पटेल, अमेरिका

पत्रिका का मूल्य / सदस्यता राशि संस्था के सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया, मंगारी के खाता संख्या 5144696109 (IFSC: CBIN0281306) में जमाकर उसकी सूचना मेल या नं. +91-7355682455 पर दें।

अनुक्रमणिका

संपादकीय

1. प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म ग्रंथों में अर्थशास्त्र का उपयोग — 1
   डॉ. राजेश मौर्य
2. प्रेमचंद के 'पत्र-साहित्य' की निश्छलता — 10
   प्रो. डॉ. राम आह्लाद चौधरी
3. The Historical Origin and Functions of The Hindu Goddess Saraswati — 22
   Giyazova Bernora Mansurovna
4. किन्नर समुदाय के अनछुए तथ्यों का सफल अंकन 'मैं हिजड़ा...मैं लक्ष्मी' — 27
   प्रो. एस.वी.एस.एस. नारायण राजू
5. गया तीर्थ के विष्णुपद की उत्पत्ति — 32
   तोमोका मुशिगा
6. सदी के उपन्यास : विचार वीथी — 41
   डॉ. दत्तात्रय मुरुमकर
7. हरिवंशराय बच्चन : एकांत निशा का आकुल संगीत — 47
   डॉ. ऋषिकेश मिश्र
8. बौद्ध जातक कथाओं की परम्परा : कुछ विचार — 58
   प्रो. उपुल रंजीथ हेवावितानागामगे
9. The Burden of History in Postcolonial Literature — 68
   Dr. Kamala Lakshmi Naiker
10. दक्षिण एवं पश्चिम भारत में क्षेत्रीय विविधताओं के आधार पर रंगबंधक आधारित रंगाई–छपाई का तुलनात्मक अध्ययन — 73
    डॉ. प्रज्ञा पाठक

संपादकीय कार्यालय

Toronto, Ontario, Canada, M2R
email : pustak.bharati.canada@gmail.com
Web : pustak-bharati-canada.com

प्रबंध एवं वितरण

Pustak Bharati (Books-India)Publishers & Distributors
H.No. 168, Nehiyan,Varanasi-221202, U. P. India
email: pustak.bharati.india@gmail.com

* प्रत्येक शोध-पत्र में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं। संपादक मंडल का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादकीय

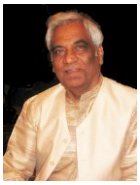

रत्नाकर नराले

हम सभी भारतीयों के लिए यह अतीव गौरव की बात है कि भारतीय गणराज्य के पन्द्रहवें राष्ट्रपति के सम्मानपूर्वक पद के लिए आदरणीया श्रीमती द्रौपदी मुर्मू जी का ऐतिहासिक निर्वाचन हुआ है. इस दूरदृष्टिपूर्वक और सुविवेकी चुनाव पर भारत सरकार समेत सभी भारतीयों को हार्दिक बधाई. यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि नवनिर्वाचित देवी स्वरूप हमारी नई राष्ट्रपति भारतीय गणराज्य का गरिमापूर्ण मार्गदर्शन करेंगी. भारत गणराज्य की समादृत राष्ट्रपति निर्वाचित होने पर श्रीमती द्रौपदी मुर्मू जी को कोटिशः हार्दिक बधाई और अनन्त शुभकामनाएँ.

भारतभूमि पर प्राचीम काल से ही उज्ज्वल वैदिक संस्कृति के प्रचार-प्रसार-विकास का कार्य राजा और प्रजा के लिए सर्व प्रधान रहा है जो तेरहवीं शती से खंडित, दुर्लक्षित और प्रतिबाधित प्रतिबिंबित होता है. सौभाग्यवश अब भारत की वर्तमान सरकार ने वह पावन काम वैश्विक मंच पर पुनर्जीवित और पुनरुत्थापित करने का बीड़ा उठा कर उसके लिए सक्रिय कदम बढ़ा दिया हैं. पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल इसी उद्देश्य से प्रकाशित होती आयी है और इसी के लिए प्रतिबद्ध है.

It is a matter of great joy and pride for all of us on the historic election of respected Mrs. Draupadi Murmu ji for the honorable post of the 15th President of the Republic of India. Hearty congratulations to all Indian people as well as the Government of India on this visionary and judicious election. It can be said with full trust that our new divine President will guide the Republic of India with dignity. Hearty congratulations and best wishes to Mrs. Draupadi Murmu ji on being elected as the Honorable President of the Republic of India.

Since ancient times, the task of propagation of our supreme Vedic Culture has been paramount for the king and the people, which had been discontinued, ignored and hindered since the thirteenth century. Fortunately, now the Present Government has taken active steps to revive and enhance that holy work on the Global Stage. Pustak Bharati Research Journal is published for this purpose and is committed to it.

रत्नाकर नराले

1 प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म ग्रंथों में अर्थशास्त्र का उपयोग

डॉ. राजेश मौर्य

सार : भारतीय सभ्यता व संस्कृति को उजागर करने वाले वेद व धर्म ग्रंथ, भारतीय प्राचीन साहित्य तथा उस समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक संरचना को समझने व सीखने की दृष्टि से अहम हैं।

भारत के संदर्भ में कुछ लोग शायद यह समझते होंगे कि इन वेद, धर्म ग्रंथों में नैतिकता, मूल्य, आदर्श, संस्कृति व सभ्यता का वर्णन है, जबकि वास्तविकता कुछ और है। अर्थात इन सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारको के अलावा आर्थिक मुद्दों और समस्याओं का भी अत्यंत सूछम दृष्टि से वर्णन किया गया है, जो मूल रुप से अर्थशास्त्र के आधार को समझने के लिए एक पथ का मार्ग प्रशस्त करता है।

संपूर्ण विश्व में आर्थिक विचारों का उल्लेख ग्रीक या यूनानियों के लेखन में मिलता है। (अरस्तु, प्लेटो) जिसका समय चौथी शताब्दी ईसा पूर्व था, जबकि भारतीय वेदों, धर्म ग्रंथों में चौथी शताब्दी से एक शताब्दी पूर्व ही उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि से भारतीय वेद व धर्म ग्रंथ देश के सबसे प्राचीन साहित्य में से एक हैं, लेकिन फिर भी न तो इनको अपनाया गया और न ही उनका अनुसरण किया गया। यह एक प्रकार से भारतीयों के साथ किया गया अन्याय है।

यह शोध पत्र प्राचीन भारतीय साहित्य (वेदों तथा धर्म ग्रंथों) में वर्णित आर्थिक विचारों पर आधारित है जिसमें हम यह समझने या जानने का प्रयास करेंगे कि क्या वास्तव में भारतीय वेदों एवं धर्म ग्रंथों में अर्थशास्त्र का उल्लेख मिलता है? यदि हां तो किस रूप में और उनकी अनदेखी क्यों की गई।

मुख्य बिंदु : ***अर्थशास्त्र का ऐतिहासिक परिपेक्ष्य, वेद, धर्म ग्रंथ, यूनानी (ग्रीक)***

प्रस्तावना : किसी भी देश के संदर्भ में आर्थिक विचारों के इतिहास का महत्व उसी प्रकार से है जिस प्रकार संस्कृति एवं सभ्यता का है। वास्तव में मनुष्य सदियों से सामाजिक-राजनीतिक विचारों के साथ-साथ आर्थिक विचारों का भी उपयोग करता आया है क्योंकि यह उसके जीवन का एक प्रमुख अंग रहा है। जहां एक तरफ सामाजिक व राजनीतिक विचार समाज के संरचनात्मक ढांचे के निर्माण एवं उसको चलाने या शासन प्रक्रिया के तहत संचालित करने में अहम होते हैं तो दूसरी तरफ आर्थिक विचार मनुष्य को किसी भी कार्य को उचित व व्यवस्थित रूप से करने की सलाह प्रदान करते हैं क्योंकि यह उस व्यक्ति के जीवकोपार्जन से संबंधित होते हैं। जैसा कि एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ***जोशेप शुम्पीटर*** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ए हिस्ट्री ऑफ इकोनामिक एनालिसिस में उल्लेख किया है कि- आर्थिक इतिहास अन्य लाभों के अलावा मानव मन के काम करने के तरीकों में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।[1]

यदि हम भारत के संदर्भ में आर्थिक विचारों के इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही हमारे ऋषि-मुनियों से लेकर विद्वानों (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) तक ने व्यवस्थित रूप से अपने-अपने लेखों में आर्थिक विचारों को प्रस्तुत किया है जिसके प्रमाण हमारे वेद, धर्मग्रंथ और धर्म शास्त्र हैं|

विश्व में आर्थिक विचारों के इतिहास का उल्लेख चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के यूनानी लेखक

या दार्शनिक (प्लेटो तथा अरस्तु) के लेखों में मिलता है जबकि भारतीय वेदों में आर्थिक विचारों के इतिहास का वर्णन चौथी शताब्दी से एक शताब्दी पूर्व से ही मिलता है, परंतु यह भाग्य की विडंबना है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। ***सतीश देवधन,*** जो कि आई.आई.एम. के वरिष्ठ भारतीय प्रोफेसर हैं, ने कहा कि-प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों पर कम ध्यान देने का प्रमुख कारण विदेशी आक्रमणकारी तथा ब्रिटिश शासन जिम्मेदार रहा है जिन्होंने कभी भी भारतीय आर्थिक विचारों को न तो स्वीकार किया और न ही माना है।[2] परिणाम स्वरुप प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार गुमनामी के अंधेरे में खो गए।

विश्व में अनेक ऐसे देसी-विदेशी आर्थिक विचारक व दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने भारतीय आर्थिक विचारों का अध्ययन किया और उन्हें लोगों के सामने प्रस्तुत किया है। जैसे-***जे स्पैंगलर*** (1971), जिन्होंने अपने लेख में प्राचीन व मध्यकालीन से लेकर औपनिवेशिक तथा आधुनिक काल तक के भारतीय आर्थिक साहित्य को शामिल करके प्रस्तुत किया था।[3] इसी प्रकार ***वाल्दौएर सी. ज़ह्का, डब्ल्यू .एस. पाल*** (1996) ***जी. सिहाग*** (2009) और ***एम. स्केयर*** (2013) आदि इन सभी ने आर्थिक साहित्य में अपना विशेष योगदान दिया और भारतीय अति प्राचीनतम दार्शनिक कौटिल्य द्वारा लिखित पुस्तक अर्थशास्त्र, जो कि उस समय का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ था, पर अपना ध्यान आकर्षित किया था।[4,5,6] उनके द्वारा किए गए यह अध्ययन इस बात का अनुमान प्रस्तुत करते हैं कि क्यों प्राचीन भारतीय आर्थिक साहित्य की अनदेखी की गई, क्यों नहीं इन पर विचार किया गया, जबकि हमें ज्ञात है कि पश्चिमी आर्थिक विद्वानों ने हमारे इस आर्थिक साहित्य से कुछ न कुछ प्राप्त किया है। यह शोध पत्र इन्हीं बिंदुओं को ध्यान में रखकर प्राचीन भारतीय साहित्य वेदो, धर्म शास्त्रों में प्रस्तुत किए गए आर्थिक विचार पर आधारित है

ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

आर्थिक विचारों के ऐतिहासिक पक्ष पर दृष्टि डालने से पहले हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि **अर्थशास्त्र** शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई तथा यह शब्द कहां से और कैसे आया था

हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि संपूर्ण विश्व में रोमन या यूनानी सभ्यता ही ऐसी सभ्यता थी जिसे विश्व में सबसे पुरानी व सभ्य सभ्यता के नाम से जाना जाता था। अरस्तु, प्लेटो तथा सुकरात यूनान की सभ्यता के सबसे प्रसिद्ध विद्वान तथा दार्शनिक थे जिन्होंने यूनानी सभ्यता के विकास के साथ-साथ एक लेखक के रूप में कई विषयों व क्षेत्रों पर अपनी दृष्टि डाली थी। इसी लेखन की श्रृंखला में उन्होंने "राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मामलों पर एक पुस्तक लिखी थी"[7] जिसने संपूर्ण दुनिया में अर्थशास्त्र के विषय को स्थापित कर दिया था। उसके बाद अर्थशास्त्र शब्द के प्रादुर्भाव को स्पष्ट किया गया था और इसे स्पष्ट करने वाले विद्वानों में ***जी. इंटेवेल, एम. मिलगेट*** तथा ***पी.न्यूमेन*** (1987) थे, जिन्होंने अपने लेख में अर्थशास्त्र शब्द को इस प्रकार स्पष्ट किया था कि अर्थशास्त्र शब्द प्राचीन ग्रीक शब्द ओइकोनोमिया से आया है। यदि हम इस शब्द को ध्यान से देखें तो यह दो शब्दों अर्थात आइकोश तथा नोमोस से मिलकर बना है। जहां आईकोस का अर्थ घर है जबकि नोमोस का अर्थ प्रथा या कानून था।[8] दरअसल, लगभग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानी विद्वान अरस्तू ने **ओइकोनोमिओकोस** नामक एक ग्रंथ लिखा था जो कि यूनानी भाषा में था। जब इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया गया तो उसमें घर के नियमों, कानूनों का उल्लेख मिला था। हालांकि यह ग्रंथ अर्थशास्त्र के शूक्ष्म (छोटे), आर्थिक शक्तियों का वर्णन करता है। लेकिन फिर भी इस ग्रंथ में लगभग एक शताब्दी के अंतराल के बाद पश्चिमी सभ्यता में आर्थिक लेखन को परिलक्षित कर दिया

था।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अर्थशात्र शब्द का प्रादुर्भाव रोमन या यूनानी सभ्यता के अंतर्गत हुआ था जो यह स्पष्ट करता है कि अत्यंत प्राचीनतम ग्रंथों या शास्त्रों के तहत आर्थिक विचारों या तथ्यों में यूनानी साम्राज्य का विशेष योगदान रहा है। ऐसे कई प्रमाण हैं जो यह साबित करते हैं कि यूनानियो का इस विषय के प्रादुर्भाव में अहम योगदान रहा है। जैसे ***एल. कोसा*** (1893) और ***इनग्राम*** (1919) जिन्होंने अपने लेखों में यूनानियो के आर्थिक विचारों को 10 पन्नों में व्यक्त किया था।[9,10] इसी प्रकार एक और विद्वान, जिनका नाम ***ई.रोल*** (1973) है, ने अपनी पुस्तक **ए हिस्ट्री ऑफ़ इकोनामिक थॉट** में यूनानियो के आर्थिक विचारों को एक संपूर्ण खंड में उल्लेख किया है[11] जबकि हाल के वर्षों में ***मार्क स्कौसें*** (2016) ने, अपनी पुस्तक **द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इकोनॉमिक्स** में अरस्तु तथा प्लेटो का संदर्भ दिया है।[12] इससे स्पष्ट होता है कि यूनानियो का अर्थशास्त्र के प्रादुर्भाव में मुख्य योगदान रहा है। इसके विपरीत पश्चिमी विद्वानों का कम योगदान होने का मुख्य कारण संदर्भ का अभाव माना गया है अर्थात यूरोप के पुनर्जागरण, प्रोस्टेट सुधार के कारण कई दशकों तक इंतजार करना पड़ा था। इसके बाद ही अर्थात 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड के अर्थशास्त्री, जिन्हें अर्थशास्त्र के जनक भी कहा जाता है, एडम स्मिथ जिन्होंने 1776 में अपना ग्रंथ राष्ट्रों के धन के स्वरूप एवं कारणों की खोज प्रस्तुत किया था, में स्मिथ ने ग्रीको के ईसाई सिद्धांतों को एक ऐसी प्रणाली के संदर्भ में परिवर्तित किया था जो नैतिक जीवन तथा भौतिक इच्छाओं की उचित खोज को जोड़ती है।[13] यह कहना उचित होगा कि स्मिथ तथा उनके समकालीन एक दार्शनिक और आर्थिक विचारक थे, परंतु उन्होंने नए अर्थशास्त्र या शास्त्रीय अर्थशास्त्र के बारे में बाद में सोचना शुरू किया था। जब उन्होंने (प्लेटो, अरस्तु तथा सुकरात) के बारे में पढ़ना या अध्ययन करना आरंभ किया था। वास्तव में ये यूनानी विद्वान प्लेटो, सुकरात, अरस्तु, एक महान विचारक तथा सामाजिक आर्थिक दार्शनिक थे और इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके अन्य विद्वानों ने लिखना शुरू किया था।

प्राचीन भारतीय साहित्य

प्राचीन भारतीय साहित्य में वेदो (चार वेदों) उपनिषदों तथा मानव अस्तित्व के दर्शनों को शामिल किया गया है। वेदों में चार वेद अर्थात ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद व अर्थबवेद शामिल हैं जो **344 साल पुराने प्राचीन भारतीय साहित्य को दर्शाते हैं।**[14] जबकि मानव अस्तित्व के दर्शनों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि को प्रकट किया गया है। इनमें से धर्म या सामाजिक व्यवस्था को अर्थ (धन) से कहीं अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि विद्वानों का कहना था कि अर्थ भौतिक समृद्धि के विचार को व्यक्त करता है। इसलिए इसे अधिक संपत्ति के रूप में समझा जाना चाहिए। इसके विपरीत काम, शारीरिक या भावनात्मक, सुख तथा मोक्ष मुक्ति के द्वार का मार्ग प्रशस्त करता है।

भारतीय विद्वानों का कहना है कि देश के इन चार वेदों में प्राचीन भारतीय समाज की संरचना, सामाजिक कानून, व्यवहारिक अवलोकन, मनुष्य का समाज में रहने के तरीके, सामाजिक मूल्यों व आदर्शों और कुछ रूप में आर्थिक मामलों पर प्रस्तुत किए गए विचारों का वर्णन किया गया है, लेकिन यह सभी संस्कृत भाषा में लिखे गए थे। भारत के अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के साहित्य को श्रुति साहित्य का नाम दिया है। इसका मतलब है कि यह साहित्य किसी एक व्यक्ति का नहीं है बल्कि कई ऋषि मुनियों के सामूहिक ज्ञान का एक संग्रह है।[15] इन चार वेदों में से जो सबसे पुराना

वेद है, वह ऋग्वेद है, जो कि लगभग 1500 ईसा पूर्व का है[16] क्योंकि उस समय अच्छी लेखन सामग्री उपलब्ध नहीं थी। इसीलिए इन वेदों की रचना कुछ चंद छंदों या तथ्यों के आधार पर की गई थी। इन वेदों में धन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था और स्पष्ट किया है कि धन मानव की सुख-समृद्धि का आधार है। यह निष्पक्षता की गुणवत्ता, सहानुभूति की क्षमता, दूसरों के कल्याण को देखने की क्षमता, इत्यादि गुणों को स्पष्ट करता है। उस समय अर्थात वैदिक काल में अधिक धन या संचित धन को महत्व नहीं दिया जाता था। यदि किसी के पास अधिकतम होता था तो उसे अमीर व्यक्ति कहा जाता था और उसका कार्य गरीब या निर्धन लोगों के कल्याण या परोपकार की भावना से प्रेरित होकर धन खर्च करना होता था अर्थात वैदिक साहित्य की आर्थिक विचारधारा भोजन, धन के संबंध में निष्पक्ष बंटवारे का सुझाव देती है। ऋग्वेद के एक भजन में उल्लेख मिलता है कि जो व्यक्ति अकेले भोजन करता है, वह पापी के समान है।[17] भारतीय वेद यह कहते हैं कि कभी भी धन का सकेंद्रन किसी एक व्यक्ति के हाथों में नहीं होना चाहिए बल्कि समाज के समस्त लोगों (गरीब, बेसहारा, सीमांत) में समान रूप से विभाजित होना चाहिए। ***डी. द्विवेदी*** (2016) के अनुसार-मनुष्य द्वारा अर्जित किया गया धन का उपयोग सभी के कल्याण हेतु किया जाना चाहिए।[18] अर्थात समाज में जीवन यापन करने वाले, चाहे वे गरीब हो या अमीर, आर्थिक मामलों की दृष्टि से अन्याय नहीं होना चाहिए। इमानदारी से आय अर्जन करना चाहिए। ***के. क्लस्टर मायर*** (1984) ***और कुर्ताज़*** (2015) ने अपने लेख में उल्लेख किया है कि-ऋग्वेद दुनिया का सबसे प्राचीन ग्रंथ है जिसमें 1028 भजनों, 10600 और 10 पुस्तकों के द्वारा निर्माण किया गया है।[19,20] इन भजनों में से एक भजन ऐसा है जो आर्थिक मामलों जैसे कीमतों, सौदेबाजी तथा भौतिक संपत्ति का उल्लेख करता है। ***ग्रैफिक्स*** (1886) ने अपने लेख में स्पष्ट किया है कि ऋग्वेद की पुस्तक IX का 12 भजन हमें बताता है कि "हम सभी मनुष्यों की अनेक इच्छाएं, आशाएं तथा योजनाएं हैं इसलिए हम भिन्न-भिन्न तरीके से धन प्राप्त करके उन्हें पूर्ण करने का प्रयास करते हैं। यह इच्छाएं या आवश्यकताएं उसी प्रकार से है जिस प्रकार एक मेंढक बाढ़ की ओर देखता है, एक शिल्पकार कुछ बहाल करने के लिए चाहता है और एक पुजारी पूजा करने वालों की तलाश करता।[21]

भारत में वैदिक काल में कर एवं मूल्य पर विशेष जोर दिया जाता था क्योंकि उस समय एक राजा द्वारा अपने राज्य के संचालन हेतु प्रजा से कर की एक निश्चित राशि वसूल की जाती थी ताकि राज्य का संचालन या कार्यों को (जनकल्याणकारी) सफलतापूर्वक संपन्न किया जा सके, जबकि मूल्य पर विशेष जोर इसलिए था जिससे राज्य का प्रत्येक व्यक्ति सौदेबाजी के माध्यम से आसान व सस्ती कीमतों के आधार पर कोई भी वस्तु क्रय कर सके। इसी श्रेणी में ग्रैफिक्स ने ऋग्वेद की पुस्तक IX, के भजन 24 का भावार्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया "एक ग्राहक इंद्र की कृपा पाने के लिए एक पुजारी से शराब और तली हुई जो खरीदने की कोशिश कर रहा है, ग्राहक कम कीमत की बोली लगाता है, और प्रसाद बिना क्रय रह जाता है क्योंकि पुजारी तैयार नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रसाद लेना संभव नहीं है। हां, इसे 10 गायों की कीमत पर बेचा जा सकता। तब जब एक जरूरतमंद खरीदार,तथा चुतर विक्रेता, गाय के थन से दूध निकालकर बेचते है।"[22]

भारतीय इतिहासकारों तथा विद्वानों का कहना है कि ऋग्वैदिक् काल में राज्य की प्रजा

समृद्धशाली स्थिति में थी क्योंकि राजा द्वारा प्रजा से कर के रूप में जो धनराशि प्राप्त की जाती थी, वह पूर्ण रुप से जनकल्याणकारी कार्यों जैसे प्रजा की इच्छा पूर्ण करना, प्रजा के भरण पोषण हेतु कृषि का विकास और प्रजा के लिए आजीविका के साधन उपलब्ध करवाना आदि पर व्यय की जाती थी । ***डी. द्विवेदी*** (2016) में अपने लेख में स्पष्ट किया है कि उस समय ऋग्वैदिक् काल में प्रजा एक पूरण समाज में जीवन यापन करते हुए अनेक आर्थिक गतिविधियों जैसे पशुपालन, बुनाई, कृषि व निर्माण कार्य में संलग्न थी[23] और इसके लिए प्राकृतिक संसाधनों या आर्थिक संसाधनों का उपयोग विवेकपूर्ण ढंग से किया जाता था। अर्थात कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक् काल में आर्थिक कार्यों को नैतिक मूल्यों, सामाजिक परिस्थितियों व आध्यात्मिक विचारों के अनुसार तैयार किया गया था।

भारतीय धर्म ग्रंथ

भारत में जितने भी धर्मों का उदय हुआ, उनमें भी अर्थशास्त्र के उपयोग का वर्णन मिलता है। यहां कुछ धर्मों का उल्लेख किया गया है-

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म भारत का एक प्राचीनतम धर्म है जिसके प्रतिपादक या जन्मदाता भगवान बुद्ध थे । यह धर्म मानव द्वारा मानवता की सेवा के सिद्धांतों पर आधारित है और मानव द्वारा मानव के बीच किसी भी ऊँच-नीच की भावना को स्वीकार नहीं करता है। बौद्ध धर्म के अंतर्गत जब किसी आर्थिक मामले या मुद्दे की बात आती है तो इसे बौद्ध अर्थशास्त्र की संज्ञा दी गई है। इसके आर्थिक विचार इस भावना पर आधारित हैं कि किसी भी मनुष्य को उतनी ही आय अर्जन करना चाहिए जिससे कि वह सुख, समृद्धि के साथ संतोषपूर्वक अपना जीवन यापन कर सके। अर्थात यह एक व्यक्ति को अत्यधिक अर्जन का अधिकार नहीं देता है।

बौद्ध धर्म में बचत एवं खपत का उल्लेख तो शामिल है, लेकिन वह किसी अन्य उद्देश्य को पूरण करने के लिए दिया गया है। **हर्षिता जैन** (2019) के अनुसार-बौद्ध धर्म स्पष्ट करता है कि खपत या बचत का मूल उद्देश्य आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए है, न कि अत्यधिक धन के लिए। इस दृष्टि से समुदाय या समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक समान महत्व रखता है और इसी महत्व की भावना के आधार पर ही एक शांतिपूर्ण स्थिर दुनिया की स्थापना संभव है।[24] अर्थात इस धर्म का अर्थशास्त्र इस धारणा पर आधारित है कि आर्थिक या वित्तीय दृष्टि से समाज का कोई भी व्यक्ति कम या अधिक नहीं होगा बल्कि एक समान होगा या हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म के तहत धन का सकेंद्रण किसी एक व्यक्ति के हाथों में नहीं बल्कि समाज के सभी व्यक्तियों के हाथों में एक समान रूप से विभाजित होगा।

बौद्ध धर्म का अर्थशास्त्र सूक्षम अर्थशास्त्र के तीन मुख्य घटकों पर बल देता है जैसे-व्यय योग्य आय, बचत तथा निवेश आदि।[25] वह कहता है कि एक व्यक्ति के पास जितनी भी आय हैं, उसका केवल एक चौथाई भाग ही उपयोग के लिए इस्तेमाल करना चाहिए, शेष आय भविष्य के लिए आपातकालीन संकट से निपटने हेतु बचत के रूप में अपने पास रखा जाना चाहिए।[26]

भारत में जब बौद्ध धर्म संचालित था तब बंद अर्थव्यवस्था हुआ करती थी। सरकारी सेवाएं, कृषि, व्यापार एवं कुशल सेवाओं को वैध ऐसा माना जाता था और उन कार्यों को अवैध माना जाता था जिनकी अनुमति धर्म नहीं देता था जैसे-अमीर व्यक्ति द्वारा धन का अपनी इच्छा अनुसार उपयोग करना, नशीले पदार्थ व शराब आदि। इसलिए बौद्ध अर्थशास्त्र एक स्थान पर कहता है कि मजदूर या कार्यबल, जो कि किसी भी उत्पादन कार्य में संलग्न है, ईमानदार होना चाहिए। कुल

मिलाकर बौद्ध अर्थशास्त्र कहता है कि एक व्यक्ति द्वारा कुल अर्जित किया गया धन का उपयोग उसे विवेकपूर्ण या बुद्धिमानी से करना चाहिए ताकि परिवार के प्रत्येक सदस्य की जरूरत पूर्ण हो सके। बौद्ध धर्म में अपनी स्थापना से ही एक और बात पर विशेष बल दिया गया था और वह थी, व्यक्ति बुरे कार्यों या वह कार्य से बचना जिनकी अनुमति समाज या सरकार नहीं देती है। जैसे नशीले पदार्थों का क्रय विक्रय, शराब तथा हथियारों का क्रय विक्रय आदि।[27] वह कहता है कि व्यक्ति या मनुष्य को उन कार्यों में संलग्न होना चाहिए जो उसे मान सम्मान दिला सके, समाज एवं परिवार में उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो सके आदि बौद्ध अर्थशास्त्र में जो निवेश की बात की गई है उसका मूल उद्देश्य एक मनुष्य द्वारा अपने उपभोग व्यय को सीमित करके शेष बची हुई धनराशि को भविष्य में घटित होने वाली दुर्घटनाओं से निपटने हेतु बचत करना चाहिए। जिसे बौद्ध धर्म में निवेश की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में आर्थिक मुद्दे या मामले के अंतर्गत केवल मानव, मानव कल्याण और मनुष्य में समाहित नैतिक अर्थशास्त्र की बातें शामिल की गई हैं।

जैन धर्म

सामान्य शब्दों में जैन धर्म में जो आर्थिक मुद्दे या समस्याएं शामिल की गई हैं, उन्हें महावीर का अर्थशास्त्र के नाम से जाना जाता है। आमतौर पर इस धर्म के बारे में यह कहा जाता है कि जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी है, जो कि पूर्ण रूप से गलत है, जैन धर्म का प्रतिपादन ऋषभदेव ने किया था। महावीर स्वामी तो 24वें तीर्थंकर थे, जिन्होंने दबे हुए इस धर्म को प्रचार-प्रसार के माध्यम से ऊपर उठाने का कार्य किया था।

जैन धर्म में अर्थशास्त्र के सिद्धांत महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, दर्शन व गैर-निरपेक्षता के सिद्धांतों पर आधारित है।[28] जैन धर्म में अर्थशास्त्र की दो प्रणालियों या अर्थव्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। पहला, साम्यवाद और दूसरा, पूंजीवाद। यह धर्म समाज के बारे में कहता है कि यहां पहली प्रणाली का मतलब अधिक समाजवादी तथा दूसरे का मतलब पूंजीवादी होना चाहिए। कहने का मतलब यह है कि अधिक समाजवादी राज्य मनुष्यों के लिए अधिक कारगर है क्योंकि इसमें सभी के हितों व अधिकारों को ध्यान में रखा जाता है। जबकि पूंजीवाद इसके विपरीत स्थिति को दर्शाता है। हर्षिता जैन (2019) के अनुसार-जैन धर्म का अर्थशास्त्र इस धारणा पर आधारित है कि भौतिकवाद (आधुनिक युग के अनुसार जीवन यापन) मनुष्य का शत्रु है। इस अर्थ में कि मनुष्य भौतिकवाद की चकाचौंध में मानव कल्याण की अभिव्यक्ति को भूल गया है जबकि मनुष्य का भाव, सजीव व निर्जीव वस्तुओं या अन्य के संदर्भ में कल्याण का भाव होना चाहिए।[29] मानव सेवा या मानव कल्याण ही सच्चा धर्म है। इसके अलावा इस धर्म में अहिंसा की बात की गई है। उसका मतलब जैन धर्म ही है। अर्थात यह कहा जा सकता है कि इस धर्म में अहिंसा का अंग नहीं बल्कि धर्म ही है। महावीर स्वामी के अनुसार एक मनुष्य में हिंसा करने के लिए अहंकार, क्रोध तथा लोभ जैसे कारक जिम्मेदार हैं। एक मनुष्य को इन सभी हिंसा के कारणों से दूर रहना चाहिए[30] और सादा जीवन उच्च विचार की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए अपना जीवन यापन करना चाहिए ताकि इस धरती पर सभी मनुष्यों के साथ साथ सभी जीव जंतुओ, जानवर, पशु-पक्षी, स्वतंत्रता पूर्वक अपना जीवन यापन कर सकें और एक समाजवादी समाज कायम रह सके।

महावीर स्वामी जी का अर्थशास्त्र स्पष्ट था। उनका कहना था कि समाज या राज्य का आर्थिक विकास तो होना चाहिए, लेकिन वह अहिंसा एवं नैतिक सिद्धांतों को अपनाते हुए हिंसा तथा अन्य

के माध्यम से हासिल किया गया आर्थिक विकास आर्थिक नहीं बल्कि अनेकों के रक्त और समाज द्वारा बहिष्कृत की गई चीज वस्तुओं पर आधारित होगा। स्वामी जी का कहना था कि यदि कोई मनुष्य ईमानदारी से धन प्राप्त करता है तो वह व्यक्ति ही लंबे समय तक समाज की भलाई के लिए कार्य कर सकता है, गरीब व असहाय लोगों की मदद कर सकता है। हालांकि कुछ विद्वान महावीर स्वामी के नैतिकता संबंधी धारणा को आज के संदर्भ में संकीर्ण दृष्टि से देखते हैं। परंतु फिर भी यह कहा जा सकता है कि उस समय या परिस्थितियों के अनुसार उनके द्वारा निर्धारित की गई नैतिकता की अवधारणा उचित है क्योंकि यह नैतिकता के साधनों के माध्यम से समाजवादी समाज की अवधारणा को चित्रित करती है।

हिंदू धर्म

हिंदू धर्म के अंतर्गत कई आर्थिक, धार्मिक ग्रंथ जैसे महाभारत, गीता, पंचतंत्र के लेखक विष्णु शर्मा द्वारा लिखित ज्ञानवर्धक कहानियां, तमिल ग्रंथ इत्यादि शामिल हैं, जिनमें अर्थशास्त्र के उपयोग का उल्लेख मिलता है।

महाभारत, जो कि भारत का सबसे बड़ा तथा प्राचीनतम धर्म ग्रंथ है, के अंतर्गत कौरवों एवं पांडवों के बीच संचालित युद्ध के तहत कुछ आर्थिक कारकों का वर्णन मिलता है जो कि विशेष रूप से भिक्षावृति के विचार को दर्शाता है। गांगुली (1896) ने भिक्षावृति से संबंधित भजन के भावार्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है 'जो व्यक्ति भिक्षावृत्ति के माध्यम से अपना जीवन यापन करता है, वह कभी भी भूमि या धरती की सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं का आनंद नहीं ले सकता है। यदि कोई गरीब व्यक्ति अमीर व्यक्ति के पास खड़ा होता है तो उस पर धन चुराने का गलत आरोप लगाया जाता है। जिस व्यक्ति के पास धन होता है, उसके साथ सगे संबंधी होते हैं, अन्य लोगों की दृष्टि में विद्वान माना जाता है, मनुष्य के पास धन होने से वह उसका सच्चा साथी माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जिसके पास धन का अभाव है तो वह न तो सम्मान पूर्वक जीवन यापन कर सकता है और न ही वह अपना कोई विशेष कार्य को पूर्ण कर पाता है, यह उसी प्रकार है जिस प्रकार से पालतू हाथी का इस्तेमाल जंगली हाथी को पकड़ने के लिए किया जाता है। व्यक्ति का धार्मिक कार्य, सुख, आनंद, साहस, क्रोध और गरिमा की भावना आदि धन से ही बढ़ते हैं।[31]

उक्त भजन का भावार्थ यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य के साथ कैसी भी मुसीबतें क्यों न आ जाए, भिक्षावृति कभी भी नहीं लेनी चाहिए क्योंकि भिक्षा का संबंध आप के मान सम्मान से जुड़ा हुआ है। यदि आप ऐसा करते हैं तो इसका मतलब यह है कि आपके पास न तो कोई दोस्त है और न ही कोई सगे संबंधी आदि।

भारत का एक और ग्रंथ भगवत गीता, जिसके नायक श्री कृष्ण भगवान हैं, दान का एक बहुत स्मरणीय उल्लेख किया गया है। महाभारत के भीष्म पर्व की पुस्तक VI, दान से संबंधित भजन का बहुत ही खूबसूरत उल्लेख प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि – "यदि कोई व्यक्ति दान करता है तो उसे यह समझ कर करना चाहिए कि वह धन वापस नहीं आएगा, उक्त भजन के भावार्थ में दान को सात्विक, (शुद्ध, अच्छा) माना गया है। भजन आगे कहता है कि यदि कोई व्यक्ति अनिच्छा या अहंकार से प्रेरित होकर दान देता है तो उसे तिरस्कार के साथ गलत कारणों तथा गलत समय पर दिया गया दान कहा जाएगा।"[32] इसी प्रकार पंचतंत्र के लेखक विष्णु शर्मा द्वारा लगभग 200 ईसा पूर्व में लिखे गए पंचतंत्र में अनेक बुद्धिमान ज्ञानवर्धक कहानियां में रुपए या धन के द्वारा घरेलू महत्व को दर्शाया गया है। ए. राइडर (1955) ने अपने लेख में पंचतंत्र नामक ग्रंथ के अंतर्गत आर्थिक मुद्दे को इस प्रकार स्पष्ट

किया है- "यदि कोई राजा अपने नौकर को दंड देता है तो फिर भी वह नौकर काम करना बंद नहीं करता है क्योंकि उसे अपने जीवन यापन के लिए धन की आवश्यकता है। इसीलिए उसे काम के अंत में भुगतान प्राप्त होता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार एक गाय का बछड़ा गाय का थन सूख जाने पर वह दूध पीना छोड़ देता है। अर्थात पैसा या धन आपको सब कुछ प्राप्त करने में सहयोग करता है। इसीलिए समझदार वही है जो सब कुछ सेंहन करते हुए काम करना जारी रखता है।"[33]

भारत में दक्षिण में स्थित एक राज्य, जिसका नाम केरल है, में एक से तीन शताब्दी ईसा पूर्व एक तमिल विद्वान त्रिवल्लुर ने एक ग्रंथ **त्रिक्कुलर** लिखा था, जिसमें धन के महत्व को बहुत ही खूबसूरत ढंग से चित्रित किया गया है। त्रिवल्लुर की पुस्तक द्वितीय में पद कुरल शीर्षक में धन के विषय में कुल 700 सूत्र दर्ज हैं, जिसमें से एक सूत्र वर्णन करता है कि पृथ्वी ऐसे लोगों पर हंसेगी जो गरीबों के साथ एक बेकार जीवन जीने की कोशिश कर रहे हैं।[34] केरल का यह ग्रंथ स्पष्ट करता है कि यदि कोई व्यक्ति गरीब है तो वह स्वयं अपने कार्यों की वजह से है। उसने कभी भी यह प्रयास नहीं किया कि वे गरीबी के दुष्चक्र से बाहर निकल सके। मेरे विचार से ए ग्रंथ मनुष्य को उस तरफ इशारा करता है जिस तरफ सैकड़ों लोगों ने कठिन परिश्रम करके अपनी आर्थिक व वित्तीय स्थिति को सुद्रण किया है और अत्यधिक धन अर्जन करके खुशहाल जीवन यापन कर रहा है। वास्तव में तिरुनल्लूर नामक विद्वान ने गरीबी का यह विचार प्रस्तुत करके गरीब लोगों को अधिक से अधिक मेहनत करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय वेद एवं धर्म ग्रंथ अद्वितीय हैं। यह न केवल प्राचीन भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, संस्कृति व सभ्यता का वर्णन करता है, बल्कि उस समय के आर्थिक मुद्दे, मामलों का भी बहुत ही खूबसूरत तरीके से वर्णन करता है जो कि हमें अर्थशास्त्र को सिखाने के लिए अनमोल है। इन वेदो, धर्म ग्रंथों में प्राचीन भारतीयों से लेकर आधुनिक भारतीयों तक को आर्थिक समस्याओं को समझा कर उनके लिए अर्थशास्त्र सीखने का आधार प्रदान किया है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से हमारे वेद, धर्म ग्रंथ सबसे प्राचीन हैं, लेकिन फिर भी उनकी अवहेलना की गई है या अनदेखा किया गया है जिसका कारण विदेशी आक्रमणकारियों तथा अंग्रेजों का आगमन रहा है, जबकि कुछ साक्ष्य बताते हैं कि अंग्रेजों ने इन्हीं वेदो, धर्म ग्रंथों के माध्यम से अर्थ शास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों को समझा तथा तथ्यों को लिया है। इस दृष्टि से यह भारतीयों के साथ किया गया धोखा या विश्वासघात है। यदि वेदो व धर्म ग्रंथों में पाए गए मूल आर्थिक सिद्धांतों को प्रचलन में लिया जाता तो अर्थशास्त्र के मामले में भारत की तस्वीर कुछ और होती।

References

1. Deodhar, S. (2019), Economic Sutra:- ancient indian, antecedents to Economic Thought, Gurgaon, India:- Penguin Random House.
2. Indian Economic thought predate Those of Plato, aristottle:- IIM Professor Research- Business Standard Newspaper 29 April 2018.
3. Spengler, J. (1971) Indian Economic thought, Durham, NC,DUKE University Press.
4. Waldauer,C.,zahka,W.And pal S. (1996):- kautilyas arthashastra:-A neglected precursor to classical economics,:-indian economics review,vol.31,no.1,pp.101-108
5. Sihag B.(2009) Kautilya on Administration of Justice during the Fourth Century BC, Journal of the History of Economics Thought,29(3),359-377.

6. skare, M.(2013) The Missing Link from Kautilya Arthashastra, to Modern Economics, The Journal of Philosophical Economics, vol.6,(2)
7. Deodhar, S.Y. (Jan 2018) Indian & antecedents to Modern Economic thought, Indian Institute of Management Ahmedabad, India, W.P. No. 2018/01/02,Jan. 2018.
8. Eatwell,J.,milgate,M.and newmann,P. (1987) the new palgrave:-A dictionary of economics, London:-macmillan.
9. Cossa,L.(1893) an introduct to the study of political economy,translated by Louis dyer,New york:-macmillan and company.
10. Ingram,J.(1919) A history of political economy,new and enlarged edition, London:-A. and C. black ltd.,pp.vii,17-27
11. Roll,E.(1973) A history of economic thought, fourth edition calcutta:- ox ford university press.
12. Skousen,M.(2016) the making of modern economics:- the lives and ideas of the great thinkers,third ed.,new york:-routledge.
13. Fitzgibbons,A. (1995) Adom smith system of liberty,wealth,and virtue,new york:-clarendon.
14. To see the reference number (7)
15. To see the reference number (7)
16. Violatti,C.(2013) the vedas, ancient history encyclopedia,accessed from,https://www.ancient.eu/the-vedas,on 29/6/2017.
17. Rgveda:-10/117/6.
18. Dwivedi,D.(2016) wealth and its various aspects as depicted in the vedic literature,https://msrvvp.ac.in/ved-vidya/ 28/ 11-english-dhananjay-vasudeo-dwivedi-28.pdf.
19. klostermaier,k.(1984) mythologies and philosophies of salvation in the theistic tiaditions of india,wilfrid laurier university piss, p6.
20. Kurtz,l.(2015), gods in the global village,SAGE Publication,P.64.
21. Griffiths,r.(1886) hymns of the rigveda,internet sacred text achieve,book 9,hymn 112, and book,hymn,24 accessed from,https://www.sacred-text.com/hin/ rigveda/on/3/7/2017.
22. Ibid.
23. to see the reference number (18)
24. jain ,h.(12 jan.2019) the ancient indian economic thought and the concept of welfare state.,indian economic thought.,electronic copy available at ;http;//ssrn.com/abastract =3762752.
25. Dhammasiri, v.(2010) buddhist economic thought,https//buddhistmahavihara.org/admin/uploads/buddhist/20economic/20thought.pdf.
26. Economic parity:-gautam buhhas perspectives (ashvamegh Indian journal of english literature, 2017).
27. The Buddhist /core/values and perpectives (unhcr.org,2012) https://www.unhcr.org/50be10cbn.pdf)
28. economical dimensions of jain principal of Ahimsa/2016/https://www.allresearchjournal.com/archives/2016/wol2issue12/partj/to-120114759.pdf/
29. to see the reference number (24)
30. to see the reference number (24)
31. Ganguli,K.(1896) mahabharat,shantiparva (book,12,section 8,88 and 188) accessed from https://www.sacred.texts.com/ hin/m12/m12bo15.htm,on8/7/2017.
32. to see the reference number (7)
33. Ryder,A.(1955) panchatantra of vishnu sharma, p.401, chicago:-university of chicago press.
34. Pope, G., Drew, W. Lazarur,J. and Ellis, F. (1886) Tirukkural, P. Reprint, Tinnevelly, Madras:-The south india saiva siddhantha works publishingh society,1962, access from https://www.projectmadurai.org/pm-etexts/pdf/pm0153.pdf,on28/7/2017.

सहायक प्राध्यापक अर्थशास्त्र

शासकीय नेहरू महाविद्यालय, सबलगढ़,

मुरैना, मध्य प्रदेश

2

प्रेमचंद के 'पत्र-साहित्य' की निश्छलता

प्रो. डॉ. राम आह्लाद चौधरी

पत्र-साहित्य विषयवस्तु के लिए प्रसिद्ध है; जहां महान लेखकों के विचार भी खुलकर अभिव्यक्ति को गले लगाने के लिए स्वतंत्र ही नहीं स्वच्छंद होते हैं। स्वतंत्रता और स्वच्छंदता का पूर्ण विकसित रूप पत्र-साहित्य में मिलता है। जो स्पष्टता लेखन की मुख्यधारा में नहीं दिखती है, वह स्पष्टता पत्र-साहित्य में सहज रूप से लगातार विकसित होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं लेकिन ध्यान रखने की जरूरत यह है कि किसी कारण की वजह से ही साहित्य का जन्म नहीं होता; हालांकि विधेयवाद के प्रवक्ताओं ने इस बात पर जोर दिया है कि कार्य-कारण के सम्बन्ध से साहित्य का सृजन होता है। लेकिन यही सृजन का मौलिक सूत्र नहीं है। सृजन की मौलिकता यदि कुछ है, तो वह जिंदगी है, जिस जिंदगी को खुलकर नृत्य करने का अवसर इसी पत्र-साहित्य में मिलता है।

विश्व-साहित्य में पत्र-साहित्य ने अपना स्थान बनाया है। यह कहने में किसी तरह का संकोच नहीं है कि पत्र-साहित्य ने मुख्यधारा के साहित्य को हर तरह से बल प्रदान करने का प्रयास किया है। पत्र-साहित्य को मुख्य साहित्यिक कृतियों की इंजन कहने में संकोच नहीं करना चाहिए। इसलिए कि स्वाभाविकता को स्थापित करने के उद्देश्य से पत्र-साहित्य ने साहित्यिक दुनिया में कमाल स्थापित किया है। जहां मुख्य धारा की साहित्यिक दुनिया में पाठक-आलोचक को गोता लगाना पड़ता है कि क्या सोच है, कौन-सी भावना किस लोच के साथ आगे बढ़ेगी, वहीं पत्र-साहित्य में महान् लेखकों के विचार सरलता और संक्षिप्तता की सरल रेखा पर देखने को मिलते हैं। हालांकि विद्वानों का मानना है कि जिंदगी वक्र-रेखा पर चलती है।

जिंदगी चाहे वक्र-रेखा पर चलती हो, पर पत्र-साहित्य का आह्वान सरल-रेखा पर ही विद्यमान होता है। पत्र-साहित्य की एक अद्‌भुत विशेषता है; यह एक सम्बोधन है, यह हर्ष-विषाद की गठरी है; यह विगत क्षण की याद है, यह सूचना है और यह संदेश भी, यह आशा जैसे डूबते के हाथों का तिनका! यह अपने आप में भूमिका है, तो अपने आप में उपसंहार भी। यह अपने कालखंड पर प्रहार है, तो अपनी कालधारा का प्रवाह भी। इसके विषय अनंत हैं, उसी तरह इसके रंग भी असंख्य हैं। पत्र-साहित्य को इंद्रधनुष के पास जाकर रंग मांगने की याचना नहीं करनी पड़ती है। यह जीवन की शुरुआत के साथ-साथ अंत भी है। यही कारण है कि अभी तक न केवल हिंदी साहित्य बल्कि विश्व-साहित्य में पत्र-साहित्य की आलोचना की प्रक्रिया शुरू नहीं हुई; पर पत्र-साहित्य पर शोध हुए हैं। वे सभी शोध-कार्य अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

पत्र-साहित्य की महत्ता को निरूपित करने में निश्चित रूप से शोध-कार्य की भूमिका रही है, जो उसे एक निश्चत मुकाम पर पहुँचाने का काम करता है, पर इस दुनिया में निश्चितता नाम की कुछ चीज नहीं है। जो निश्चित है वह भी अनिश्चितता का शिकार होने के लिए अभिशप्त है। जब एक दिन सौरमंडल का सूरज भी विलुप्त हो जायेगा, तब भला कौन कहेगा कि यही जुगनू अमर रहेगा जिसने अभी-अभी जुगनाना शुरू किया है; जाहिर है कि हर किसी का गवाक्ष रिक्त होता है! यही वह स्थिति है, जो पत्र साहित्य को

आगे बढ़ने के लिए उद्वेलित करती है। जिस बात को आलोचना नहीं प्रकट कर पाती है, उसे पत्र में सहज रूप से प्रकट किया जाता है।

पत्र-साहित्य का आधार चाहे जितना व्यक्तिगत होता हो, पर उसकी व्याप्ति का दायरा विशाल होता है। पत्र-साहित्य भी एक कला है; जो व्यक्ति से समूह तक की दूरी तय करता है। इस साहित्य की कई कमजोरियां भी हैं। यही एक साहित्य है, जिसे प्रचार और मुनाफे से दूर रहना पड़ता है। इस साहित्य को न यश मिलता है और न धन। लेकिन इस साहित्य का अध्ययन जरूरी है; क्योंकि इस साहित्य की इतिहास चेतना अत्यंत उपयोगी है, जो जिंदगी के सर्वांगीण उन्नति का रास्ता प्रशस्त करती है। इस वजह से जीवन की दुरूहता पत्र-साहित्य में समा जाती है। जिंदगी को आगे बढ़ाने में इसकी महती भूमिका होती है। इसका फलक अत्यंत विस्तृत होता है; जैसा कि किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है- "अति दुरूह विस्तृत जीवन जो, ग्रंथों में है नहीं समाता; वही किसी के पत्र में ज्यों का त्यों पूरा बंध जाता।" सिर्फ जीवन की दुरूहता ही नहीं बल्कि जिंदगी की खुशबू भी पत्र साहित्य में समाती है। उर्दू साहित्य की महान कवयित्री अख्तर शीरानी ने सच ही लिखा है- "मिट गये मेरी उम्मीदों की तरह हर्फ मगर/ आज तक तेरे खतों से तेरी खुशबू न गई।"

पत्र-साहित्य जिस तरह से अपने-आप में छोटा होता है, उसी तरह से वह बड़ा भी होता है। उसके आकार-प्रकार की कोई सीमा नहीं होती है। अपने ढंग से वह निर्णय नहीं देता है, वह विचार को विचरण करने की आदत डालने का अनुशीलन करवाता है। पत्र-साहित्य परिवर्तन के साथ-साथ सही-गलत का निर्णय भी करता है। समय के साथ-साथ बढ़ने की कला पत्र-साहित्य की निधि है। इसका विश्लेषण किसी तरह से किया जाए, यह सब के लिए आनंददायक-मंगलदायक है। पत्र-साहित्य जीवन की मधुर संगीतात्मकता की प्राण-वायु है।

जब-जब पत्र साहित्य की चर्चा होगी, तब-तब मार्क्स-एंगेल्स की ओर ध्यान देना जरूरी होगा कि पत्र-साहित्य के चलते ही उन दोनों महान चिंतकों की दोस्ती कायम हुई तथा 'पूंजी' नामक ग्रंथ सामने आया। उनके विचार ने इस दुनिया को आलोकित किया; खासकर मेहनतकशों की महत्ता स्पष्ट हो पायी है। रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा ऐण्ड्रूज के बीच जो पत्राचार हुए, वे कई मायने में महत्त्वपूर्ण हैं। खासकर मानवता के जो ध्वज लहराते हैं; उसके पीछे इन्हीं पत्रों की सराहनीय भूमिका है। रोमां रोलां के कला और संस्कृति का महान विचारक बन पाने के पीछे टालस्टाय की लम्बी चिट्ठी के योगदान को यह दुनिया आज भी मानती है, जिस चिट्ठी का फैलाव 36 पृष्ठों तक सीमित है। रोमां रोलां ने भी यह स्वीकार किया है कि उसी पत्र से प्रभावित होकर उन्होंने हर पत्र का जवाब देना सीखा। गांधी के नाम टालस्टाय के जो पत्र उपलब्ध हैं, उन पत्रों के सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि वे पत्र अहिंसा पर एक विस्तृत भाष्य हैं। कई पत्र-पत्रिकाओं ने भी समय-समय पर अपना-अपना विशेषांक इस विषय पर प्रकाशित किया है। इस सिलसिले में 'ज्ञानोदय' का नाम लेना उचित है, जिसने सन् 1963 में 'पत्रांक' प्रकाशित किया था।

हिंदी साहित्य में भी पत्र-साहित्य की अपनी धारा रही है। कहा जाता है कि सन् 1904 में मुंशी राम ने हिंदी का पहला पत्र प्रकाशित किया था। इसके बाद पत्रों के प्रकाशन का सिलसिला चल पड़ा। धीरेन्द्र वर्मा के पत्रों का संग्रह 'यूरोप के पत्र' शीर्षक से छपा। इसके बाद 'प्राचीन हिंदी पत्र-साहित्य' का प्रकाशन हुआ; इसके लेखक धीरेन्द्र वर्मा और लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय हैं। 'साहित्यकारों के पत्र' शीर्षक से किशोरीदास वाजपेयी की पुस्तक प्रकाशित हुई। अमृत राय के संपादन और संकलन में 'चिट्ठी-पत्री' नामक ग्रंथ दो खंड़ों में प्रकाशित किया गया। अमृत राय ने सन् 1962 में इसके दो खंड प्रकाशित किये।

वृंदावनलाल वर्मा ने बनारसीदास चुतर्वेदी के पत्रों को 'बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्र' शीर्षक से प्रकाशित किया। पत्र-साहित्य को समृद्ध करने में रामविलास शर्मा का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने 'मित्र संवाद' 'तीन महारथियों के पत्र, 'आपस की बातें', 'कवियों के पत्र' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को प्रकाशित किया। पत्र-साहित्य के भंडार को भरने में पुष्पा भारती का नाम भी अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है, जो महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने 'अक्षर-अक्षर यज्ञ', 'धर्मवीर भारती के पत्र', 'एक साहित्यिक के 'प्रेम पत्र', 'ढाई आखर प्रेम के' जैसे महत्त्वपूर्ण पत्र-साहित्यों से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। रमेश गजानन मुक्तिबोध और अशोक वाजपेयी ने 'मेरे युवजन : मेरे परिजन' शीर्षक से पुस्तक छापा। राजेन्द्र यादव के 'अब वे वहां नहीं रहते हैं,' नामवर सिंह के 'काशी के नाम' और कमलेश अवस्थी के 'हमको लिख्यों हैं कहाँ' जैसी पुस्तकें पत्र-साहित्य में विशेष उल्लेखनीय हैं।

इसके अलावा और कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पत्र-साहित्य के दायरे में आते हैं, जिन पर आलोकपात करना जरूरी है। लेकिन यह सच है कि हिंदी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने में प्रेमचंद के पत्र अत्यंत सराहनीय हैं। इन पत्रों को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि प्रेमचंद का एक ही उद्देश्य था- जीवन को अधिक से अधिक आलोच्य बनाना । जीवन की उन्नति तभी संभव है, जब उसे बेहतर बनाने का उपाय सामने हो; परिस्थिति के विश्लेषण करने से ही संभावना को रेखांकित करना संभव होता है। जो जितनी बड़ी चुनौतियों से टकराता है, उसके समक्ष उतनी बड़ी संभावनाएं आती हैं, ईमानदारी की बुनियाद पर ही वे संभावनाएं स्थापित होती हैं। यदि सही अर्थों में संभावनाएं उपस्थित हैं, तो वे हकीकत में निश्चित रूप से तब्दील होंगी। जिंदगी संभावनाओं को हकीकत में बदलने का खेल ही तो है! इसकी झलक पत्र-साहित्य में उसी रूप में दिखती है, जैसे घोर अंधेरे में रोशनी की एक छोटी-सी झलक। यह भावना का प्रबल प्रवाह नहीं होता है। यह यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। सच की धरती पर दिल की बात बाहर निकलती है। इसी दृष्टि से प्रेमचंद को उनकी चिट्ठियों में खोजने का प्रयास करना आवश्यक है, जहां प्रेमचंद का एक नया रूप उभर कर सामने आता है। इस रूप की चर्चा प्रासांगिक है, उनके जन्म के 140 साल हो गये, इस मौके पर प्रेमचंद के पत्रों का सही विश्लेषण करना और उस विश्लेषण की पड़ताल करना वक्त का तकाजा है; इसलिए कि घोर संकट में भी वे पत्र दुनिया को सुकून देते हैं।

प्रेमचंद के पत्रों को अमृत राय ने दो खंडों में छापकर हिंदी पत्र साहित्य को गरिमा प्रदान की है। उन दोनों खंडों को सन् 1962 में प्रकाशित किया गया। इसके पहले खंड में कुल 281 पत्र हैं; जो पत्र प्रेमचंद ने 'जमाना' के संपादक मुंशी दया नारायण निगम के नाम लिखा था। दूसरे खंड में कुल 283 पत्र संगृहीत हैं। प्रेमचंद तथा अन्य महान साहित्यकारों द्वारा लिखे गये पत्रों को भी इकट्ठा किया गया है। यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के पत्र-साहित्य की संख्या 564 है, जिनमें प्रेमचंद द्वारा लिखित पत्र ही अधिक हैं। रचना विचार की दृष्टि से जब उन पत्रों पर विचार किया जाता है, तब यह पता चलता है कि प्रेमचंद ने सम्बोधन और अभिवादन, परिचय और हस्ताक्षर पर विशेष ध्यान रखा है। लेकिन पत्रों को संपादित करने में तिथि की उपयोगिता अत्यंत जरूरी है। प्रेमचंद के पत्रों में यह देखा जाता है कि कहीं तिथि है, तो महीना गायब है, तो कहीं ईस्वी गायब है। इस कठिनाई की तरफ अमृत राय ने ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने 'चिट्ठी-पत्री' भाग-1 की भूमिका में लिखा है- "अक्सर चिट्ठियों पर पूरी-पूरी तारीख न डालने की मुंशी जी की आदत हमारे लिए काफी उलझन का कारण बनी-महीना है तो तारीख नहीं, तारीख है तो महीना नहीं, महीना और तारीख हैं तो सन् नहीं, और उन चिट्ठियों का तो खैर जिक्र ही फिजूल है जिनमें यह तीनों ही गायब हैं।"[1]

अमृत राय द्वारा संकलित पत्रों के अतिरिक्त प्रेमचंद के पत्र उग्र के 'फाइल और प्रोफाइल', 'निराला की साहित्य साधना भाग-3', इंद्रनाथ मदान के 'प्रेमचंद : एक विवेचन', 'हंसराज रहबर के प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व पुस्तकों में भी सुरक्षित हैं। प्रकाश चंद्र गुप्त ने अक्टूबर 1948 के 'हंस' में भी प्रेमचंद के पत्रों को प्रकाशित किया था। इसके बावजूद यह भी जानकारी मिलती है कि प्रेमचंद के पत्र खो भी गये। लेकिन जो चिट्ठियां उपलब्ध हैं, वे क्या कम हैं? सच तो यह है कि चिट्ठियां किसी व्यक्ति की तबीयत का आईना होती हैं। इस बारे में अमृत राय ने लिखा है- "चिट्ठियां, किसी की भी, आईना होती हैं उस आदमी की तबीयत का, मुंशी जी की चिट्ठियां तो और भी, जिनमें किसी तरह की बनावट या तकल्लुफ नहीं है, कागज-कलम उठाया और लिख मारी एक चिट्ठी, कि जैसे आमने-सामने बैठे बातें कर रहे हों।"[2]

'चिट्ठी-पत्री के पहले भाग में मुंशी दयानारायन निगम के नाम मुंशी प्रेमचंद के जो भी पत्र हैं, उन पत्रों के सम्बोधन लाजवाब हैं। सम्बोधन पर गौर करना उचित है, प्रेमचंद ने मुंशी दयानारायन निगम को जनाब 'मुकर्रमबंदा', प्रिय बाबू दया नारायन साहब, 'बरादम', 'हजरत', 'प्रिय निगम', 'भाईजान', जनाब 'एडीटर साहब जमाना', भाई साहब नियाजकेस' इत्यादि शब्दों से सम्बोधित किया है। प्रेमचंद ने मुंशी दया नारायण निगम का अभिवादन भी दिल से किया है। 'आपका', 'अंहकार', 'मुखलिश', 'नियाजमंद' शब्दों से मुंशी दयानारायन निगम के प्रति आभार प्रकट किया है। इन शब्दों के जरिये अभिवादन करने से पता चलता है कि प्रेमचंद का दिल सही अर्थों में दरिया था। सन् 1905 से लेकर सन् 1915 के बीच प्रेमचंद ने मुंशी दयानारायन निगम को; उपलब्ध पत्रों के अनुसार कुल 51 पत्र लिखे। इन पत्रों को पढ़ने से पता चलता है कि मुंशी दयानारायन निगम के प्रति प्रेमचंद के हृदय में कितना बड़ा स्थान सुरक्षित था। 30 जनवरी, 1905 को प्रेमचंद ने उन्हें पत्र लिखते हुए पूछा था- "मैं बड़े इश्तियाक से मुन्तज़िर हूँ कि आपने मेरा नाविल अभी तक पढ़ा या नहीं। जवाब से सरफराज फरमाइए। ज्यादा नियाज।" 20 फरवरी, 1905 को मुंशी प्रेमचंद ने मुंशी दयानारायन निगम को पत्र देते हुए कहा था कि प्रेमचंद के एक उपन्यास की पांडुलिपि देखकर एक प्रकाशक ठीक कर दें, ताकि वह प्रकाशक उस उपन्यास को ठीक समय पर छाप सके। इस सम्बन्ध में प्रेमचंद ने जो लिखा उसकी गहराई पर विचार करना कितना जरूरी है; देखने योग्य है, जैसा कि उन्होंने लिखा- "दो महीने से ज्यादा हुआ कि मुझे अपने उपन्यास की पांडुलिपि आपके पास आलोकनार्थ भेजने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, इस आशा में कि आप मेरे लिए एक प्रकाशक जुटाने की कृपा करेंगे। मुझे याद है कि वह दिसम्बर की 8 तारीख थी जब कि मैंने किताब आपके पास भेजी थी। उसकी प्राप्ति की सूचना आपने 16 दिसम्बर को लिखी थी और वादा किया था कि आप इसके बारे में फिर मुझे लिखेंगे, लेकिन दो महीने से ज्यादा निकल गये और आपने न तो पुस्तक पर ही दया दिखायी और न उसके लेखक पर। आपकी इस उदासीनता और सहानुभूति शून्यता के लिए अपने भाग्य को ही दोषी मानता हूँ।"[3]

महोबा से प्रेमचंद ने 6 मार्च, 1913 को पत्र लिखते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि किताब छपने के बाद पाठकों के बीच आती है, लेकिन उस पर राय बननी जरूरी है। इसलिए प्रेमचंद यही चाहते थे कि पहले विशेषज्ञों के बीच किताबें पहुँचे, जैसा कि उन्होंने इसी तारीख को लिखे पत्र में लिखा है- "यह बहुत अच्छा होगा कि किताब पब्लिक में आने से पहले खास-खास अहले कलम के पास इजहारे राय के लिए भेजी जाए और यही रायें इश्तहार का काम दें।" इसी पत्र में उन्होंने कहा- "कल अखबारात में रिव्यू और 'आमावस की रात' भेज चुका हूँ।"

प्रेमचंद को 'आजाद', 'जमाना' का इंतजार

रहता था। उन्होंने 22 मार्च, 1913 को मुंशी दयानारायन निगम को पत्र लिखते हुए उन्होंने कहा- "आज हमीरपुर से वापस आया। अब तक ताजा आजाद नहीं मिला। मार्च का जमाना मिला। अभी अच्छी तरह नहीं देख सका हूँ मगर कुछ कमजोर नंबर मालूम होता है और लिखाई-छपाई की शिकायत मुआफ।" प्रेमचंद स्पष्ट बोलते थे। किसी अखबार के कमजोर अंक पर बोलना उनका स्वभाव था, क्योंकि प्रेमचंद यही चाहते थे कि अखबार सही ढंग से छपे। इन पत्रों में उन्होंने बराबर अपने घर परिवार का जिक्र किया है। उनकी यह चाहत थी कि आजाद अपने पैर पर खड़ा हो, जैसा कि उन्होंने 4 मई, 1913 को लिखे पत्र में मुंशी दयानारायन निगम से कहा- "मुझे यह सुनकर सख्त मलाल हुआ कि अभी तक आजाद अपने पैरों पर खड़े होने के काबिल नहीं हुआ। यही फर्ज करके मैंने कल आपको एक शिकायतनामा लिखा है जिस पर अब नादिम हूँ।" तारीख पत्र पर नहीं दी गयी है। अमृत राय के अनुसार इस पत्र की तिथि शायद सितम्बर, 1913 रही है, यह पत्र उल्लेखनीय है, क्योंकि इस पत्र में प्रेमचंद ने लिखा है- "मैं अब सिर्फ 9 जुज्व की किताब निकालना पसंद करता हूँ, बशर्ते कि आप शरीक हों और जल्द किताब को निकाल सकें। कमायत के इन्तजार में बैठने से तो यही बेहतर है कि जो कुछ सवाब इस वक्त मिलता है मिल जाये। ज्यादा क्या अर्ज करूं।"[4]

प्रेमचंद को अपनी किताब से कितना लगाव है, इसका अंदाजा तब लगता है, जब 10 दिसम्बर, 1913 को मुंशी दयानारायन निगम को लिखे पत्र पर नजर जाती है। इस पत्र में उन्होंने लिखा है- "टाइटिल पेज खूबसूरत होना चाहिए। बस। कई जगह लिखा-पढ़ी के बाद मैंने यही तसफिया किया है कि खुद ही छपाऊँ और नफा-नुकसान उठाऊँ। पहला हिस्सा इसका फैसला कर देगा। और सब हालात बदस्तूर हैं।" इससे यह पता चलता है कि प्रेमचंद लाभ-हानि के ऊपर थे। यह तभी संभव होता है, जब कोई सामाजिकता की भावना से ओत-प्रोत हो। इसी पत्र में उनकी दूरदर्शिता पर ध्यान जाता है, जैसा कि उन्होंने लिखा है- "कहते अकाल पड़ गया है। ईमानदारी (सहायता के लिए) काम खुलने शुरू हो गये हैं। अब जिस कदर जल्द मुमकिन हो यह काम खत्म हो जाए तो अच्छा हो। मुझे वापसी डाक मुत्तला फरमाइए कि विक्रमादित्य का वह आखिरी टुकड़ा मिला या नहीं, ताकि वह हिस्सा मिलाने की फिक्र करूँ। सैरे दरवेश बहुत तूलानी किस्सा है। इसके बजाय नमक का दरोगा रख दीजिए तो बहुत खूब हो।" प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानियों में 'नमक का दरोगा' अत्यंत प्रसिद्ध कहानी है।

प्रेमचंद लेखन के सम्बन्ध में अपना नजरिया किस तरह से अद्यतन करने की कोशिश करते थे। इस तथ्य को समझने के लिए 4 मार्च, 1914 को लिखे इस पत्र को पढ़ना ही होगा, जैसा कि उन्होंने लिखा है- "मुझे अभी तक यह इत्मिनान नहीं हुआ कि कौन सा तर्जे तहरीर अख्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नकल करता हूँ, कभी आजाद के पीछे चलता हूँ। आजकल काउण्ट टाल्स्टाय के किस्से पढ़ चुका हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तरफ तबीयत माइल है। यह अपनी कमजोरी है और क्या।" प्रेमचंद त़र्जुमा भी करते थे, वे बंगला से भी तर्जुमा करते थे, यह बात 22 मई, 1914 को लिखे पत्र से पता चलती है, जैसा कि उन्होंने लिखा है- "एक और किस्सा भी भेजता हूँ यह कुछ अर्सा हुआ बंगला से तर्जुमा होकर मर्यादा में निकला था। किस्सा निहायत दिलचस्प है वर्ना मैं तर्जुमा क्यों करता। यह जखीरे के लिए लिखा था। आप जरा इसे सरसरी तौर पर देख लीजिएगा। जी चाहे तो रख लीजिए वर्ना जहाँ का तहाँ भेज दूँगा।"इसी पत्र में उन्होंने लिखा है- "अगर आपको किसी अंग्रेजी रिसाले से किसी मजमून का खुलासा या तर्जुमा कराना हो और जिसकी जुलाई के लिए जरूरत हो तो फौरन भेज दीजिए।"

इस तरह यह समझ में आता है कि प्रेमचंद

अनुवाद करने में दिलचस्पी रखते थे। दिल से विभिन्न भाषाओं की सामग्रियों को उर्दू-हिंदी में अनूदित करते थे। अपने हिंदी लेखन के सम्बन्ध में प्रेमचंद ने 4 सितम्बर, 1914 को लिखे पत्र में कहा- "और कोई ताजा हाल नहीं है। ज्यादा क्या अर्ज करूँ। प्रताप के इसरार से मजबूर होकर एक मुक्तसर-सा किस्सा हिंदी में उसके विजयदशमी नंबर के लिए लिखा है। हिंदी लिखनी तो आती नहीं मगर कुछ कलम तोड़-मोड़ दिया है। बच्चे कैसे हैं। जवाब का मुन्तजिर।"

मुंशी दयानारायन निगम के प्रति प्रेमचंद का अत्यंत लगाव था। यह बात उनके इस पत्र को पढ़ने से पता चलती है, जैसा कि उन्होंने 10 नवंबर, 1914 को लिखा- "आप मेरी किताब जल्दी से छपवा दीजिए, ताकि उसकी कद्रदानी देखकर दूसरे हिस्से में हाथ लगे, और कुछ नफा भी हो। क्या कहूँ आपने तो मुझे उछालने में कोई कसर नहीं रखी। खूब उछाला। मगर मैं ही किस्मत का अंधा हूँ कि उछल कर परवाज नहीं कर सकता, बल्कि नीचे गिरने के लिए डरता हूँ। वर्ना शिवब्रत लाल वर्मन की तरह चैन से जिंदगी बसर करता। हकीकत यह है कि सेहत बड़ी चीज है, जिसने उसकी कद्र न की उसके लिए बजुज रोने और सर धुनने के और कोई इलाज नहीं है। और ज्यादा क्या लिखूं।" प्रेमचंद को मुफ्त में कलम घिसना फिजूल मालूम होता था। इस बारे में उन्होंने 10 अगस्त, 1915 को मुंशी दयानारायन निगम को पत्र देते हुए कहा था- "आजकल एफ.ए. के धुन में कुछ लिटररी काम नहीं होता। कहीं से तहरीक भी नहीं हुई। और मुफ्त में कलम घिसना फिजूल मालूम होता है।"

17 जुलाई, 1926 को प्रेमचंद ने मुंशी दया नारायन निगम को जो पत्र लिखा था, उस पत्र में उन्होंने अपना एक संक्षिप्त परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया है- "तसलीम। कार्ड के लिए मशकूर हूँ। मेरे हालात नोट कर लें। तारीख पैदाइश संवत् 1937। बाप का नाम मुंशी अजायब लाल। सुकूनत मौजा मढ़वा, लमही। मुत्तसिल (पास) पांडेपुर। बनारस। इब्तदाअन (शुरु में) आठ साल तक फारसी पढ़ी। फिर अंग्रेजी शुरू की। बनारस के कालेजिएट स्कूल से एन्ट्रैन्स पास किया। वालिद का इन्तकाल पंद्रह साल की उम्र में हो गया। वालिदा सातवें साल गुजर चुकी थीं। फिर तालीम के सीगे (विभाग) में मुंलाजिमत की। सन् 1901 ई. से लिटरेरी जिन्दगी शुरू की। रिसाला जमाना में लिखता रहा। कई साल तक मुतफर्रिक मजामीन लिखे। सन् 1904 में एक हिंदी नाविल प्रेमा लिखकर इंडियन प्रेस से शाया कराया। सन् 12 में जल्वए ईसार और सन् 18 में बाजारे हुस्न लिखा। हिंदी में सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प- चारों नाविल दो-दो साल के वक्फे बाद निकले। इनके उर्दू तर्जुम अनकरीब शाया होंगे। कहानियों के मजमूए प्रेम पचीसी और प्रेम बतीसी उर्दू में निकले। हिंदी में भी कई मजमूए शाया हुए। सन् 20 में मुलाजिमत से किनाराकश हो गये। अब खानानशी हैं। बाकी उमूर आपको खुद ही मालूम है।"

इस तरह प्रेमचंद ने सन् 1901 से लेकर सन् 1920 तक के अपने लिटरेरी कार्यों का विवरण पेश कर दिया; इससे यही लगता है कि उनकी स्पष्टता कितनी मजबूत थी। 5 अगस्त, 1936 को लखनऊ से प्रेमचंद ने मुंशी दयानारायन निगम को चिट्ठी लिखते हुए साफ-साफ शब्दों में कहा कि शायद यह 'आखिरी पैगाम' है। इस पत्र में उन्होंने लिखा "...बात यह है कि कोई डेढ़-दो महीने से मुझे वरमे-जीगर (सिरोसिस ऑफ लिवर) की शिकायत हो गयी है। दो बार मुंह से सेरों खून निकल गया है। बनारस में इलाज से कोई फायदा न देखकर 2 को यहां आ गया और डाक्टर हर गोविंद सहाय के जेरे इलाज हूँ। पाखाना (मल), पेशाब (मूत्र), खून वगैरा की जांच हो चुकी है। मगर अभी कई दांत तोड़े जायेंगे, तब डॉक्टर साहब मर्ज की तशखीश करेंगे और इलाज शुरू होगा। शायद यहां पंद्रह दिन लगें। या तो इसलाह ही होगी या खात्मा ही होगा। घुलकर आधा हो गया हूँ। जर्द। न कुछ खा सकता हूँ, न हज्म होता

है। एक बार मुश्किल से हार्लिक्स खा लेता हूँ।... यहां बड़ा लड़का धुन्नू मेरे साथ है। देखिए इस बीमारी से निजात मिलती है या यह आखिरी पैगाम है।" इस तरह देखा जाता है कि प्रेमचंद के निश्छल भाव उनके पत्र-साहित्य में उपलब्ध हैं। पत्र साहित्य के जरिये जीवन-सूत्र में बनना शुरू हो जाता है; इसका भी हवाला इस पत्र-साहित्य में देखने को मिलता है।

जैनेन्द्र से प्रेमचंद के जो पत्राचार हुए हैं, उन पत्राचारों को देखने से ऐसा लगता है कि किस तरह दो महान कथाकार आपस में बातचीत करते थे तथा रचनाशीलता के प्रति उन दोनों के बीच कितना लगाव था। 13 अप्रैल, 1931 को पत्र लिखते हुए प्रेमचंद ने जैनेन्द्र से कहा था- "आपका पत्र मिला। मैं लाहौर गया, पर आप दिल्ली न थे इसलिए मैं सीधा लौट आया। आशा है आप दिल्ली आ गए होंगे। आपको कहानी का पुरस्कार भेजने के लिए मैंने ताकीद कर दी है। आशा है जल्द पहुँचेगा। 'गबन' आप पढ़ लें और मैं कुछ आपकी राय जान लूँ तो मुझे संतोष हो। 'परख' की आलोचना जल्दी में नहीं की, लेकिन अपनी दानिस्त में मुझे जो कुछ कहना चाहिए था वह कह चुका। मैं समालोचक बहुत खराब हूँ। पुस्तक पर पाठक की दृष्टि से निगाह डालता हूँ। और जो भाव जम जाता है वही लिखता हूँ।"

प्रेमचंद एक बड़े लेखक हैं; और उनकी रचनाशीलता अद्‌भुत है। हर वक्त उन्होंने सामान्य को महत्त्व दिया है। विचार का स्त्रोत यही आमजन होता है। यही कारण है कि प्रेमचंद पाठक की दृष्टि से किसी चीज पर नजर डालते हैं। पाठक बनने से भाव का पता नहीं लग सकता है, हालांकि आलोचना के औजारों से रचनाशीलता का मर्म भी समझ में नहीं आता है। रचनाशीलता की महत्ता तभी जाहिर होती है, जब रचनाशीलता में निहित भाव का अवलोकन किया जाए, यह तभी संभव है, जब एक आलोचक को पाठक बनने की कला आती हो। जब कोई आलोचक पाठक की तरह किसी रचना को पढ़ता है, तब उसका दिल बहुत बड़ा हो जाता है। वह सहज बन जाता है। सहज बनने की कला प्रेमचंद के पत्र-साहित्य से सीखी जा सकती है। 7 दिसम्बर, 1932 को प्रेमचंद ने जैनेंद्र को पत्र लिखते हुए जो भाव व्यक्त किया था, वह भाव कितना सुन्दर और सहज है, इसका अंदाज लगाया जा सकता है। इस पत्र में उन्होंने लिखा था- "कार्ड मिला था। सरस्वती प्रेस और 'जागरण' से 26-10-32 को 'उसका अंत' नाम की कहानी के दंड में दो हजार की जमानत मांगी। बहुत परेशान हुआ, भागा हुआ लखनऊ पहुँचा वहां Chief Secretary से मिलकर कहानी का आशय समझाया और भी अपनी Loyalty के प्रमाण दिये। अब आशा है जमानत मंसूख हो जायेगी। जरा-जरा-सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है। 'कर्मभूमि' तुम्हें बहुत बुरी नहीं लगी, इससे खुशी हुई। इसकी कहीं आलोचना कर दो।

तुम्हारी परेशानियों की कहानी पढ़कर बड़ी चिंता में हूँ। इस मास में कुछ भेजूँगा जरूर। 'जागरण' बड़ा पेटू है और 'हंस' पैसे खाने में शेर।"

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' के प्रति प्रेमचंद के हृदय में असीम श्रद्धा है। यह बात 10 जनवरी, 1933 को जैनेंद्र के नाम लिखे पत्र से ज्ञात होती है- "हाँ, मैं भी चाहता हूँ 'परख' पर कुछ लिखवाऊँ। मुझे आलोचना नहीं करनी आती। यहां आलोचना के लिए (जनार्दनप्रसाद झा द्विज) सबसे अच्छे हैं। वह परीक्षा में लगे हुए हैं और तो मुझे कोई आलोचक नहीं दिखता।"[5] प्रेमचंद ने जैनेंद्र को सांत्वना देते हुए 17 जनवरी, 1933 को एक पत्र लिखा। उस पत्र की इन पंक्तियों पर ध्यान देना जरूरी है- "बच्चा चला गया। खत पढ़ते ही पहले तो कलेजा सन्न हो गया, लेकिन फिर मन शांत हो गया। यही जीवन के कड़वे अनुभव हैं। इन्हें झेले जाओ तो सब कुछ सरल हो जाता है। फिर रोयें भी तो किस के सामने? अपना केवल इतने ही के लिए समझो कि उसके प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं।

ज्ञान-वान तो मैं जानता नहीं। ऐसे आघातों से कलेजे पर घाव लगता ही है। लेकिन लगना चाहिए नहीं। तुम रोये नहीं, इससे मेरा चित्त बहुत शांत हुआ। तुम यहां होते तो तुम्हारी पीठ ठोंकता। यही तो परीक्षा के अवसर हैं।"

दक्षिण भारत के सम्बन्ध में जैनेंद्र को प्रेमचंद ने 7 फरवरी, 1935 को एक पत्र में लिखा-"मद्रास गया था, वहां से मैसूर और बंगलौर भी गया। अपना यात्रा-वृत्तांत लिख रहा हूँ। कुछ नोट तो किया नहीं। जो कुछ याद है वही लिखता हूँ। हिंदी का प्रचार बढ़ रहा है, यह देखकर खुशी हुई। जो लोग राष्ट्र की और कोई सेवा नहीं कर सकते, वे इसी खयाल में मगन हैं कि वे राष्ट्रभाषा सीख रहे हैं।

मुझे वह प्रदेश बड़ा सुन्दर लगा। गाने बजाने का घर-घर प्रचार है। मौहल्ले-मोहल्ले स्त्रियों के समाज हैं और प्रायः सभी में हिंदी की क्लासेज हैं। मैं बुद्ध की तरह माला पहनकर रह गया। बोल न सकने की कमी उस वक्त मालूम हुई। जनता समझती है कि हिंदी का एक बड़ा लेखक है; जाने क्या-क्या मोती उगलेगा और यहां है कि कुछ समझ में नहीं आता क्या कहूँ। खैर ट्रिप अच्छा रहा।"

बनारसीदास चतुर्वेदी से भी प्रेमचंद का गहरा लगाव था। प्रेमचंद ने उन्हें कई पत्र लिखे, जिन पत्रों में विभिन्न विषयों को समाहित किया गया है। 24 अगस्त, 1933 को लिखे पत्र में प्रेमचंद ने बनारसीदास चतुर्वेदी से कहा था- "साहित्य केवल कहानी नहीं है। उसमें नाटक है, कविता है, आलोचना है, कहानी है, उपन्यास है, निबन्ध है।... नन्ददुलारे वाजपेयी में भी अद्भुत व्याख्यात्मक-विश्लेषणात्मक शक्ति है। नाटक हमारे पास बहुत कम हैं। रोमांटिक स्कूल के प्रसाद हैं, बुद्धिवादी स्कूल के पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं, हास्यरस के श्री जी.पी. श्रीवास्तव हैं। सबसे नया आदमी इस लाइन में भुवनेश्वर है जिसने हाल में अपने छोटे-छोटे एकांकियों का संग्रह 'कारवाँ' के नाम से छपाया है। मेरे देखने में भुवनेश्वर सबसे अधिक प्रतिभा-सम्पन्न है, अगर वह अपनी प्रतिभा को आलस्य, बेसिर-पैर के सपने देखने, सिगरेट पीने और इश्कबाजी में बर्बाद न कर दे। उसमें अभिव्यक्ति की अद्भुत शक्ति है, आस्कर वाइल्ड और शॉ का रंग लिए हुए। मिश्र जी को मैं पसंद नहीं कर सका। उनके पास विचार हो सकते हैं मगर अभिव्यक्ति की क्षमता और शक्ति नहीं है। मिलिन्द और हरिकृष्ण प्रेमी हैं, दोनों में नाटकीय शक्ति है, पर नाटक की आधुनिक पकड़ और सूझ-बूझ नहीं है"।

उपन्यासकारों में-वृन्दालाल वर्मा, भगवती-चरण वर्मा, निराला, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि हैं। मैं समझता हूँ कि इनमें वृन्दावनलाल वर्मा सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं, जो उन्होंने अब वकालत शुरू कर दी है और लिखना शायद बंद कर दिया है।

कहानीकारों में चुनाव और कठिन है- जैनेंद्र सबसे अलग अपनी एक हस्ती रखते हैं। नये लोगों में अज्ञेय, चनुगुप्त, कमला देवी, सुभद्रा, ऊषा मित्रा, सत्यजीवन, भुवनेश्वर, जनार्दन झा, जनार्दन राय, नागर, अंचल, ओझा, राधाकृष्ण, वीरेन्द्र कुमार (जिन्होंने हंस में 'चूनड़ी के अंचल में' लिखा था) और भी बहुत से लोग हैं। इनमें अज्ञेय, वीरेन्द्र कुमार, सत्य जीवन में सबसे अधिक संभावनाएं हैं।

हास्य-रस के लिखने वालों में अन्नपूर्णानंद बेजोड़ हैं मगर वह बहुत ही कम लिखते हैं। जनार्दन झा भी योग्य लेखक हैं मगर उनमें प्रतिभा की स्फूर्ति या अन्तर्दृष्टि बहुत नहीं है। साहसिक आख्यानों के क्षेत्र में पं. श्रीराम शर्मा अकेले हैं।

सृजनशीलता ही असल चीज है, मूल स्त्रोत। सृजनशील प्रतिभाएं हमारे यहां बहुत कम हैं, कहानीकारों में जैनेंद्र मैदान सम्हाले हुए हैं। दूसरी कतार में बहुत से लोग हैं।

जहां तक निबंधों की बात है, पं. रामचंद्र शुक्ल सम्राट हैं। हेमचन्द्र जोशी ने कुछ सुन्दर निबन्ध लिखे हैं।

आपके मित्र बाबू ब्रजमोहन वर्मा भी हास्य-व्यंग के बड़े प्यारे लेखक हैं और द्विवेदी ग्रंथ में उनका 'शेख' मास्टर पीस था।

यह सरकारी रायें हैं जिनसे आपको नयी कोई बात न मालूम होगी लेकिन मैं समीक्षा बुद्धि-सम्पन्न पाठक भी तो नहीं हूँ। सच तो यह है कि मुझमें आलोचना-बुद्धि तनिक भी नहीं है।

आपने जो विषय चुना है उसका विस्तार साहित्य का पूरा क्षेत्र है लेकिन इसमें आप कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकते जिनमें आज सबसे अधिक संभावनाएं दिखायी पड़ती हैं। हो सकता है कि वे बिल्कुल बोदे साबित हों और जो बोदे नजर आते हैं वे चमक उठें।"[6] इस तरह प्रेमचंद ने अपने कालखंड पर हिंदी साहित्यकारों की सृजनशीलता के सम्बन्ध में एक अनोखी टिप्पणी की है, जो टिप्पणी आगे चलकर सच की धरती पर पूरी तरह सिद्ध साबित हुई। प्रेमचंद की आलोचना-दृष्टि और उनका समाज-दर्शन भी बिलकुल साफ होता है। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि प्रेमचंद के पत्र-साहित्य वैचारिक दृष्टि से उत्कृष्ट ही नहीं है बल्कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण भी हैं।

अंधविश्वास को धंधा बनाना प्रेमचंद को पसंद नहीं था। यदि समाज में व्याप्त किसी तरह के रोग को उभरते हुए वे देखते थे, तो उनकी कलम रोष प्रकट करती थी; जिसका विरोध भी होता था; लेकिन प्रेमचंद लगातार इस तरह के असंख्य पाखंडों-कट्टरताओं के खिलाफ संघर्षरत थे, जैसा कि उन्होंने बनारसीदास चतुर्वेदी को 12 जनवरी, 1934 को पत्र लिखते हुए कहा- "ब्राह्मण का मेरा आदर्श सेवा और त्याग है, वह कोई भी हो। पाखंड और कट्टरता और सीधे-सादे हिंदू समाज के अंधविश्वास का फायदा उठाना इन पुजारियों और पंडों का धंधा है और इसलिए मैं उन्हें हिंदू समाज का एक अभिशाप समझता हूँ और उन्हें अपने अधःपतन के लिए उत्तरदायी समझता हूँ। वे इसी काबिल हैं कि उनका मखौल उड़ाया जाये और यही मैंने किया है। यह निर्मल और उसी थैली के चट्टे-बट्टे दूसरे लोग ऊपर से बहुत राष्ट्रियतावादी बनते हैं मगर उनके दिल में पुजारी वर्ग की सारी कमजोरियां भरी पड़ी हैं और इसलिए वे हम लोगों को गालियां देते हैं जो स्थिति में सुधार लाने की कोशिश कर रहे हैं।"[7]

प्रेमचंद को अपनी क्षमता पर पूरा विश्वास था, इसलिए वे किसी तरह का गलत निर्णय नहीं लेते थे। एक बार उन्हें तुलसी जयंती के मौके पर आयोजित सभा की अध्यक्षता करने के लिए बनारसीदास चतुर्वेदी ने आमंत्रित किया था, प्रेमचंद ने स्पष्ट कह दिया कि वे इस काम के लिए सबसे कम योग्य व्यक्ति हैं, जैसा कि उन्होंने 2 अगस्त, 1935 के अपने पत्र में लिखा- "जहां तक तुलसी जयन्ती की बात है, मैं इस काम के लिए सबसे कम योग्य व्यक्ति हूँ। एक ऐसे उत्सव की अध्यक्षता करना जिसमें मैंने कभी कोई रुचि नहीं ली, हास्यास्पद बात है। मुझे अपने भीतर आत्मविश्वास की कमी जान पड़ती है, डर लगता है। सच बात तो यह है कि मैंने रामायण भी आदि से अंत तक नहीं पढ़ी है। यह एक लज्जाजनक स्वीकारोक्ति है, मगर बात ठीक है।"

प्रेमचंद उस सभा में नहीं गए। 17 अगस्त, 1935 को बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र लिखते हुए कहा- "मैं वहाँ नहीं आ सका इसके लिए आप मुझे गालियां न दीजियेगा। अगर आपने तुलसी उत्सव मेरे ऊपर न लगा दिया होता तो मैं आता। लेकिन एक ऐसे व्यक्ति का तुलसी जयंती में सभापतित्व करना, जिसने कभी उन्हें न पढ़ा और जो उनके सम्बन्ध में कही जानेवाली अतिमानवी बातों में विश्वास नहीं करता, हास्यास्पद है। उन्होंने राम और हनुमान को देखा और वह बन्दरवाली घटना, सब खुराफात। मगर क्या तुलसी-भक्त लोग मेरी काफिरों जैसी बात पसंद करेंगे? इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह विक्रम सम्वत् दस में पैदा हुए या बीस में या चालीस में? क्यों अपनी बुद्धि खामखाह इसके पीछे बर्बाद करो जबकि और भी न जाने कितनी चीजें करने को पड़ी हैं। वह एक महान कवि थे, उनकी व्याख्या करो, दार्शनिक व्याख्या, मनोवैज्ञानिक व्याख्या,

प्राणिशास्त्रीय व्याख्या, शरीरशास्त्रीय व्याख्या, जो चाहे करो, मगर उन्हें ईश्वर काहे बनाते हो।" प्रेमचंद को परलोक में विश्वास नहीं था। 01 दिसम्बर, 1935 को बनारसीदास चतुर्वेदी को उन्होंने जो पत्र दिया था, उस पत्र में लिखा- "परलोक में मेरा विश्वास नहीं है इसलिए अध्यात्म का विचार जो कि यौवन का सबसे बड़ा घातक है, मेरे पास नहीं फटकता। हाँ यह जरूर है कि एक चीज स्वस्थ यौवन होती है और दूसरी उन्मत्त यौवन। स्वस्थ यौवन जीवन के प्रति एक प्रगतिशील और आशावादी दृष्टिकोण में होता है, और उसके साथ गड्ढों से बचता है। उन्मत्त यौवन का मतलब है बिना सोचे-विचारे कुछ कर बैठना और अपनी क्षमताओं और स्वप्नों को बढ़ा चढ़ाकर देखना। मैंने सपने देखना बंद नहीं किया है और थोड़ा-बहुत जल्दबाज भी हूँ, बिना सोचे-विचारे कुछ कर बैठता हूँ।"[8]

प्रेमचंद लेखकों को एकजुट करने में विश्वास रखते थे। लेखक संगठनों के महत्त्व पर विचार करते हुए उन्होंने बार-बार यह बताया है कि संगठन के जरिये लेखक आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। प्रेमचंद ने 31 मार्च, 1936 को बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र देते हुए कहा- "प्रान्तीयता एक नया संकट है और हमको सावधान होना पड़ेगा। अगर आप कलकत्ते में एक हिंदी-बंगाली या हिन्दोस्तानी सभा का संगठन कर सकें और समय-समय पर उर्दू, हिंदी और बांग्ला लेखकों को एक जगह पर जमा कर सकें, तो यह एक असली काम होगा।" प्रेमचंद को पता था कि असली काम लेखक संगठन के जरिये संभव है। इसी पत्र में उन्होंने लिखा- "इन राजनीतिज्ञों से तो कोई उम्मीद रखनी न चाहिए, बिलकुल बेमसरफ लोग हैं। उनसे उदार मनस्क होने की आशा ही न करनी चाहिए। लेखकों को ही आगे आना पड़ेगा।"[9]

भदंत आनंद कौसल्यायन को प्रेमचंद ने दो पत्र लिखे। वे पत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। एक पत्र में उन्होंने सिंहल साहित्य पर चर्चा करने की बात की थी और दूसरे पत्र में प्रलेस की विचार धारा के अनुसार नयी पत्रिका निकालने की बात की जो, उल्लेखनीय है 14 फरवरी, 1936 को भदंत आनंद कौसल्यायन को पत्र लिखते हुए कहा- "हाँ, सिंहल साहित्य के विषय में अगर कोई लेख भेज सकें तो बड़ा अच्छा हो। उसे तो हम कुछ जानते ही नहीं। उसका कुछ आलोचनात्मक इतिहास ही हो तो कोई हर्ज नहीं। अगर इंग्लैंड जाएं तो वहां से बौद्ध साहित्य पर एक अच्छा-सा लेख लिखें केवल उसके धर्म साहित्य पर नहीं, बल्कि बौद्धकालीन साहित्य पर। ऐसे लेख की बड़ी जरूरत है।" जो दूसरा पत्र उन्होंने भदंत आनंद कौसल्यायन को अगस्त, 1936 को लिखा, इस पत्र पर दिनांक लिखा हुआ नहीं है। इस पत्र में उन्होंने लिखा- "हंस' सितम्बर से सस्ता साहित्य, देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके सम्पादन से इस्तीफा दे दिया है। मैं इधर एक महीने से बीमार हूँ। अगर अच्छा हो गया तो यहां से अपना एक नया पत्र प्रगतिशील लेखक संघ की विचारधारा के अनुसार निकालूँगा।"

प्रेमचंद को रवीन्द्रनाथ से मिलने की इच्छा थी, जैसा कि उन्होंने 27 फरवरी, 1936 में ललिताशंकर अग्निहोत्री को पत्र देते हुए कहा था- "मैंने तो तुम्हारे आदेशों को कभी नहीं टाला। चतुर्वेदी जी के नेवते पर मैं क्यों जाने लगा। वह कौन होते हैं। क्या तुम सीधे मुझसे नहीं कह सकते। तुम्हारे यहां जब कोई ऐसा अवसर आये, मुझे बुलाना, मैं आऊँगा। हाँ यह तो तुम जानते ही हो कि मैं घर में अकेला आदमी हूँ और बिना जरूरत कहीं नहीं आता जाता। गुरुदेव के दर्शनों की इच्छा मुझे भी है। समय आयेगा तो वह भी पूरी हो जायेगी। मित्रों को मेरा बंदे कहना।"[10]

प्रेमचंद ने इन्द्रनाथ मदान को पत्र लिखते हुए कई सवालों के जवाब दिये थे। 7 सितम्बर, 1934 को पत्र लिखते हुए प्रेमचंद ने अपने कथानक के सम्बन्ध में खुलासा इस तरह किया- "कथानक मैं इस दृष्टि से बुनता हूँ कि मानव चरित्र में जो कुछ सुन्दर है, मर्दाना है वह उभरकर सामने आ जाए।

यह एक उलझी हुई प्रक्रिया है, कभी इसकी प्रेरणा किसी व्यक्ति से मिलती है या कभी किसी घटना से या किसी स्वप्न से लेकिन मेरे लिए जरूरी है कि मेरी कहानी का कोई मनोवैज्ञानिक आधार हो। मैं मित्रों के सुझावों का सदैव सहर्ष स्वागत करता हूँ। मेरे अधिकांश चरित्र वास्तविक जीवन से लिए गए हैं, जो उन्हें काफी अच्छी तरह पर्दे में ढंक दिया गया है। जब तक किसी चरित्र का कुछ आधार वास्तिवकता में न हो तब तक वह छाया-सा, अनिश्चित-सा रहता है और उसमें विश्वास पैदा करने की ताकत नहीं आती।" इसी पत्र में उन्होंने लिखा- "मैं रोमे रोलां की तरह नियमित रूप से काम करने में विश्वास करता हूँ।" प्रेमचंद ने 26 दिसम्बर, 1934 को इन्द्रनाथ मदान को पत्र लिखते हुए कहा- "हाँ मेरे ऊपर टालस्टाय, विक्टर ह्यूगो, और रोमे रोलाँ का असर पड़ा है। जहाँ तक कहानियों की बात है, शुरू में उनकी प्रेरणा मुझे रवीन्द्रनाथ से मिली थी। पीछे मैंने स्वयं अपनी शैली का विकास कर लिया।

एक सृजनशील व्यक्ति को हमेशा भावुकता से बचना उचित है, जैसा कि 22 जनवरी, 1930 को हरिहर नाथ को पत्र लिखते हुए बताया- "मैंने बड़े चाव से आपकी सुन्दर और अत्यंत आवेगपूर्ण चीज पढ़ी। इसमें बहुत आग है और बहुत दर्द, पर कहानी के आवश्यक तत्त्व-कोई विचार, कथानक और चरित्र-इसमें नहीं हैं और इसलिए यह चीज गद्य काव्य है, कहानी नहीं। अगर आपकी रुचि इसी ओर हो तो जरूर लिखिए, पर थोथी भावुकता से बचिए। सृजनशील मन को सृजन करना चाहिए-किस चीज का? चरित्रों को उजागर करने वाली परिस्थितियों का।"

प्रेमचंद ने साहित्य के उद्देश्य पर टिप्पणी करते हुए इसी पत्र में लिखा- "मेरा ख्याल है कि साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य उन्नयन है, ऊपर उठाना। हमारे यथार्थ को भी यह बात आँख से ओझल न करनी चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आप 'मनुष्यों' की सृष्टि करें, साहसी, ईमानदार, स्वतंत्रचेता मनुष्य, जान पर खेलनेवाले, जोखिम उठानेवाले मनुष्य ऊँचे आदर्शोंवाले मनुष्य। आज इसकी जरूरत है। निश्चय ही मानव प्रकृति चुक नहीं गयी। इस तरह की रचनाएं मुझे आशंका है, लोकप्रिय नहीं हो सकतीं।"

प्रेमचंद के नाम भी कई रचनाकारों के पत्र उपलब्ध हैं, उन पत्रों में से अमरनाथ झा द्वारा लिखित पत्र की एक पंक्ति उद्धृत करना अत्यंत जरूरी है, जो पत्र 10 जून, 1925 को अमरनाथ झा ने प्रेमचंद को लिखा था- "रंगभूमि आधुनिक हिंदी का एक गौरव बनेगी।" प्रेमचंद ने 26 दिसंबर, 1934 को इंद्रनाथ मदान को पत्र लिखते हुए कहा- "मेरी राय में 'रंगभूमि' मेरी कृतियों में सबसे अच्छी है।" प्रेमचंद ने 7 सितम्बर, 1934 को इन्द्रनाथ मदान को जो पत्र लिखा था, उसमें यह जिक्र किया था- "हाँ, मेरा गोदान जल्दी ही प्रेस में जा रहा है। वह लगभग छः सौ पृष्ठों का होगा।" 22 जून, 1936 को जैनेंद्र को लिखते हुए प्रेमचंद ने हिंदी साहित्य के अनमोल रत्न 'गोदान' के सम्बन्ध में लिखा था- "आज 'गोदान' भेज रहा हूँ। पढ़ना और अच्छा लगे तो कहीं 'अर्जुन' या 'विशाल भारत' या 'हंस' में आलोचना करना। अच्छा न लगे तो मुझे लिख देना; आलोचना मत लिखना...।"[11] 'गोदान' के छपने की सूचना प्रेमचंद ने जैनेंद्र को 10 जून, 1936 को पत्र लिखते हुए दी थी- " 'गोदान' निकल गया। कल तुम्हारे पास जायेगा। खूब मोटा हो गया है, 600 से (ऊपर) गया। अपना विचार लिखना।"

इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने पत्रों के जरिये हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। इन पत्रों को पढ़ने से साहित्य के सम्बन्ध में साफ-साफ समझ विकसित होती है तथा विकट परिस्थितियों से जूझने का साहस भी उपलब्ध होता है। साहित्यिक वैचारिकी दुनिया के सच को समझने की अक्ल भी हासिल होती है। खासकर सृजन के कार्यों में इन पत्रों से सहायता मिलती है। सवाल

सिर्फ लेखकीय निश्छलताओं का नहीं है बल्कि तूफान को चीरने की दृष्टि हासिल करते हुए मानव प्रकृति को सुन्दर से सुन्दर बनाने का है; इसी उद्देश्य से प्रेमचंद ने 'पाती' के जरिये सृजन के कार्यों में पंख लगाने का काम किया था, जो विभिन्न दृष्टियों से मानवोपयोगी है, सच्चा इंसान बनाने का आधार भी और अधिरचना भी। सही अर्थों में 'पाती-साहित्य' में ही वह क्षमता है, जहां आधार को आधार तथा अधिरचना को अधिरचना के रूप में विश्लेषित करना संभव है; यही कारण है कि पाती सचमुच में पाती है; प्रस्तुत है प्रेमचंद के नाम रघुपत सहाय की चिट्ठी में लिखित ग़ज़ल की दो पंक्तियां :

है चोट सी चोट मुहब्बत की है दर्द सा दर्द मुहब्बत का
आंखें भी न पड़ने पायी थीं और मुंह पे हवाई छूट गयी।

संदर्भ :

1.राय, अमृत सं. चिट्ठी-पत्री भाग-1, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1962, भूमिका
2.वही, पृष्ठ-35
3. वही, पृष्ठ-50
4.राय, अमृत सं. चिट्ठी-पत्री भाग-2, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1962, पृष्ठ-67
5. वही, पृष्ठ-27
6. राय, अमृत सं. चिट्ठी-पत्री भाग-1, पृष्ठ-38
7. राय, अमृत सं. चिट्ठी-पत्री भाग-2, पृष्ठ-44
8. राय, अमृत सं. चिट्ठी-पत्री भाग-1, पृष्ठ-55
9. वही, पृष्ठ-105
10. राय, अमृत सं. चिट्ठी-पत्री भाग-2, पृष्ठ-70
11. वही, पृष्ठ-97

प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष,
हिंदी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता,
पश्चिम बंगाल

3

The Historical Origin and Functions of The Hindu Goddess Saraswati

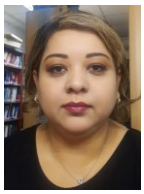

Giyazova Bernora Mansurovna

Abstract :
The purpose of this article is to study the historical origin and functions of the goddess Saraswati, who occupies an important place in indian mythology and hinduism.

Keywords : goddess Saraswati, Aryans, Saraswati River, Rigveda, Veda, "Vach", myth, Triveni Sangam, Brahma, Indian culture.

Introduction

Before giving information about the genesis of the goddess Saraswati, the word genesis will be explained. "Genesis" is derived from the Greek language and means the history of origin. [1]

Just like the origin and birth of every creature, we tried to learn about the origin of Goddess Saraswati.

Collecting information about the genesis of the goddess, while studying them, shows that the genesis of Saraswati is first of all connected with the river, and then with "Vach", the goddess of speech. In studying the genesis of Goddess Saraswati, these two pieces of information are the most important.

There are different opinions about Saraswati in the studied sources and most of them associate the word Saraswati with the river. [2] In those sources, this river was considered sacred for the Vedic Aryans, and they deified the river as a God.

In some sources, there is another opinion, which shows the connection with the common language of the ancient Indo-Aryan. That is, the well-known Avesta and the ancient Aryan peoples who created the Veda in the past, they formed a common language in the region of India and present-day Iran, and it is said that this common language existed in Central Asia in the literature. In some sources, specific territories are indicated, that is, it is said that it is a river named Harakaiti (Haraqaiti) in present-day Afghanistan. [3] According to some sources, in the past, the hydronym Kharakhwaiti[4] was known to the ancient Aryans, and for some reason, as a result of their march to the South, they came to the Indian region. After that, seeing a river in this region, they gave one of them the name of a river known to them in the past, but this name was previously called Sarsuti.[5] Later, this name changed phonetically in this region and began to be called Saraswati.

In the mythological dictionary V.N.Toporov and according to the information on the Internet [6], Sarasvati explains that the word is the divine name of the river "Ind". So, it can be assumed that the Sarasvati river was already known to the ancient Aryans. However, in Rigveda, the first collection of Vedas, only three hymns are dedicated to Saraswati. [7]

---

[1] Ўзбек тилининг изоҳли луғати. 2-том. М., 1981. - Б. 188. (Annotated dictionary of the Uzbek language. 2nd Vol. Moscow, 1981., - P. 188).

[2] Мифологический словарь / Гл.ред. Е.М.Мелетинский. “Советская энциклопедия”. М., 1990., - С. 672. (Mythological Dictionary / Ch.ed. E.M. Meletinsky., Moscow, 1990., - P. 672). http://mifolog.ru/mythology

[3] http://ru.wikipedia.org

[4] http://orel.rsl.ru/nettext/russian/timoschuk/01.html#_ftn42

[5] http://ru.wikipedia.org

[6] http://ru.wikipedia.org

[7] Мифологический словарь / Гл.ред. Е.М.Мелетинский. “Советская

In the oldest texts of the Rigveda she is described as a "great and holy river in north-western India", but Michael Witzel notes that the Rigveda indicates that the Saraswati "had already lost its main source of water supply and must have ended in a terminal lake (samudra) approximately 3000 years ago. The middle books 3 and 7 and the late books 10 "depict the present-day situation, with the Saraswati having lost most of its water. The Saraswati acquired an exalted status in the mythology of the Kuru Kingdom, where the Rigveda was compiled.[8] The Rigveda mentions kings and peoples living along the river Saraswati, and the course of this river is very wide, from the mountains to the sea, and its flow is considered greater and greater than the flow of other rivers. The water of this stream was very clean and strong, and it destroyed the mountain tops. At the same time, this river is divided into seven branches and it is said to have seven sisters. [9]

In the Vedic hymns, Saraswati is asked to come down from the sky from the great mountains to the earth and take part in the sacrifices. So, there are two interpretations about the origin of this goddess, that is, it can be called divine and demonic. In Hindu mythology, the demon or Asura is the name of a being representing the highest spirits in the oldest chapters of the Rigveda, which is compared to the Zoroastrian god Ahura.[10] In Hindu mythology, all gods and demons live in the sky, so Saraswati's origins are linked to the sky. [11]

Based on the hymns of the Rigveda, it is said that the river Sarasvati existed around 1900 BC. When the Aryans entered the Indian region, they knew several rivers, namely the Volga, Amudarya and even the Dvina, as the Sarasvati River. [12]

According to the famous epic "Mahabharat", Saraswati was cursed by a saint named Uttathya and became dry. [13] Uttathya is the name of a Brahman who is a descendant of Angiras. [14]

According to Hindu understanding, on the left bank of the river Ganga flows another invisible mythical river, Saraswati, hence the name Triveni Sangam, the confluence of three rivers. According to legend, the Saraswati River flows underground to reach the confluence of the Ganga and Jamna rivers unimpeded, hiding from evil spirits (demons).[15] The word Triveni means "Three-crown" in Sanskrit and is the ancient name of the city of Allahabad, where the Ganga, Jamna and, presumably, the subterranean river

энциклопедия". М., 1990., - С. 672. (Mythological Dictionary / Ch.ed. E.M. Meletinsky., Moscow, 1990., - P. 672) http://mifolog.ru/mythology

[8] https://en.wikipedia.org/wiki/Sarasvati

[9] Мифологический словарь / Гл.ред. Е.М.Мелетинский. "Советская энциклопедия". М., 1990., - С. 672. (Mythological Dictionary / Ch.ed. E.M. Meletinsky., Moscow, 1990., - P. 672). http://mifolog.ru/mythology

[10] रामचन्द्र वर्म्मा, मानक हिन्दी कोश, पाँचवाँ खंड, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1991, पृष्ठ 235

[11] Мифологический словарь / Гл.ред. Е.М.Мелетинский. "Советская энциклопедия". М., 1990., - С. 672. (Mythological Dictionary / Ch.ed. E.M. Meletinsky., Moscow, 1990., - P. 672).

[12] http://orel.rsl.ru/nettext/russian/timoschuk/01.html#_ftn42

[13] Шоматов О.Н. "Қадимги ҳинд маданиятига оид сўзлар луғати". Т., 2005. - С. 83. (Shomatov O.N. "Glossary of Ancient Indian Culture Words". Tashkent, 2005. - P. 83).

[14] Шоматов О.Н. "Қадимги ҳинд маданиятига оид сўзлар луғати". Т., 2005. - С. 99. (Shomatov O.N. "Glossary of Ancient Indian Culture Words". Tashkent, 2005. - P. 99).

[15] Боги, Брахмани, люди – четыре тысячи лет индуизма. М., 1969. - С. 255. (Gods, Brahmans, people - four thousand years of Hinduism. Moscow, 1969. - P. 255).

Saraswati meet.[16] In another reference, the Sarasvati is also considered by Hindus to exist in a metaphysical form, in which it formed a confluence with the sacred rivers Ganga and Yamuna, at the Triveni Sangam. According to Michael Witzel, superimposed on the Vedic Sarasvati river is the heavenly river Milky Way, which is seen as "a road to immortality and heavenly after-life."[17] However, the Sarasvati River is located in eastern Punjab (the five rivers namely Satluj, Bias, Ravi or Chenab and Jhelam) and is mentioned in the later parts of the Vedas.[18]

According to the latest geological and space research, the Saraswati River was a very powerful river in its time, its length was 7 kilometers.[19] Its source starts from the Himalayas and flows towards the ocean through Rajasthan.

According to the latest satellite data, the Saraswati River was considered a seasonal river in 3000 BC.[20] In the Rigveda, the Yamuna (now Jamna) is mentioned 3 times, the river Ganga (now Ganga) only 2 times, but the Saraswati river, which did not even exist at that time, is mentioned 60 times. So we can know from this that the Saraswati river has gained a very important place in the life of the Aryans, and even after the river disappeared, it was preserved in their memory and they looked at the river as a divine thing.

Geological studies have shown that tectonic changes have occurred in Punjab and the Himalayas, and as a result, the ground has risen up to 60 meters in some places. This change has occurred over the past 2,000 years, and these studies suggest that rivers have also changed their course. [21]

The information given above about the Saraswati River shows that this river was recognized as sacred by the early Aryans and it played an important role in their life. At the same time, the Saraswati river was known to the Rishis during the Vedic period, and they concluded that this river has great power and can cause great losses to mankind in certain periods, so they started deifying it and singing hymns to it. In these hymns, Saraswati is glorified as a charming, beautiful goddess. As the speech of these hymns contained beautiful, artistic expressions of high emotional uplift, that's way Saraswati was later deified as “Vach”, the goddess of beautiful speech.

In the Vedas, speech – "Vach", appears to be the expression of human speech.[22] According to the Internet, "Vach" is personified as the goddess of speech.[23] In another source, "Vach" is a form of speech, the mother of the Vedas and the wife of Indra. It is believed to have been created by Prajapati. According to the Vedas, Prajapati is a term attributed to Indra, Savitri, Soma, Hiranyagarbha and other deities. At the same time, it is said that Prajapati gave the "Vach" to the "Gandharvas" in exchange for the divine juice of "Soma". In the Vedas, "Gandharvas" are deities who know celestial secrets and

---

[16] Шоматов О.Н. “Қадимги ҳинд маданиятига оид сўзлар луғати”. Т., 2005. - С. 95. (Shomatov O.N. "Glossary of Ancient Indian Culture Words". Tashkent, 2005. - P. 95).

[17] https://en.wikipedia.org/wiki/Sarasvati_River

[18] Гринцер П.А. Древнеиндийский эпос. “Наука”., М., 1974. – С. 182. (Grintser P.A. Ancient Indian epic. Moscow, 1974. - P. 182).

[19] http://orel.rsl.ru/nettext/russian/timoschuk/01.html#_ftn442

[20] Ghose B., Kar A. and Hussain Z. The lost courses of the Sarasvati river in the Great Indian Desert: New evidence from Landsat imagery // The Geographical Journal. 1979. Vol. 145. Part 3. - Pp. 446-451.

[21] http://orel.rsl.ru/nettext/russian/timoschuk/01.html#_ftn42

[22] Шоматов О.Н. “Қадимги ҳинд маданиятига оид сўзлар луғати”. Т., 2005. – С. 16. (Shomatov O.N. "Glossary of Ancient Indian Culture Words". Tashkent, 2005. - P. 16).

[23] http://www.foxdesign.ru/legend/i_gal.html

possess divine truths. [24]

From the mentioned points, it can be concluded that after the Saraswati river began to be embodied in "Vach", that is, in the form of speech, various legends and narratives appeared about it. In the event of the gift of "Vach" from the "Gandharvas" in exchange for Soma drink, "Vach" became a woman.[25]

The sources mentioned above mention that "Vach" was created by Prajapati. However, in "Shatapatha-Brahmana" "Vach" was recognized as one of Prajapati's wives.[26] Later, in the "Mahabharat" and "Brahmanas", "Vach" was also called the goddess of speech and eloquence. [27] By the epic period, "Vach" appeared in the form of Saraswati, the goddess of science and eloquence.[28] The same information is given in other sources.[29] Along with knowledge, Saraswati, as the patroness of "Vach" i.e. speech, gives the ability to distinguish between good and bad words. [30]

Concluding Remarks

A feature is an indicator of knowledge. The basis of the Puranas is the Vedas. Therefore, the source of the names of gods and goddesses in the Puranas is also the Vedas. So, the origin of Saraswati is also connected with Brahma. After the birth of Brahma, Sarasvati is believed to have appeared in the form of the early Vedas. Saraswati is the sponsor of the sound that comes out of the four mouths of Brahma in the form of four Vedas and the melody that occurs along with this sound.[31] Nowadays, the goddess Saraswati is considered the patroness of knowledge and speech. Along with science, it represents the power of the creator god Brahma in the form of great scientific potential.

In conclusion, it should be said that Saraswati, despite its antiquity, has not lost its place and essence in the modern life of hindus. Modern hindus today also refer to Goddess Saraswati as "Saraswati Maa" (Mother Saraswati) and in the modern science development world, the play of Saraswati's recognize and believe.

References

1. Шоматов О.Н. “Қадимги ҳинд маданиятига оид сўзлар луғати”. Т., 2005. (Shomatov O.N. "Glossary of Ancient Indian Culture Words". Tashkent, 2005).
2. Ўзбек тилининг изоҳли луғати. 2-том. М., 1981. (Annotated dictionary of the Uzbek language. 2nd Vol. Moscow, 1981).
3. Мифологический словарь / Гл.ред. Е.М.Мелетинский. М., 1990.

[24] Боги, Брахмани, люди – четыре тысячи лет индуизма. М., 1969. – С. 25. (Gods, Brahmans, people - four thousand years of Hinduism. Moscow, 1969. - P. 25).

[25] Dowson J. A. Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, Geography, History and Literature. — London, 1928. — P.330. https://ru.wikipedia.org/wiki/% D0% 92%D0%B0%D1%87#cite_note-6

[26] Dowson J. A. Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, Geography, History and Literature. — London, 1928. — P. 329. https://ru.wikipedia.org/wiki/%D0% 92%D0%B0%D1%87#cite_note-5

[27] Шоматов О.Н. “Қадимги ҳинд маданиятига оид сўзлар луғати”. Т., 2005. - С. 83. (Shomatov O.N. "Glossary of Ancient Indian Culture Words". Tashkent, 2005. - P. 83).

[28] Мифологический словарь / Гл.ред. Е.М.Мелетинский. “Советская энциклопедия”. М., 1990., - С. 672. (Mythological Dictionary / Ch.ed. E.M. Meletinsky., Moscow, 1990., - P. 672). http://mifolog.ru/mythology

[29] Боги, Брахманы, люди – четыре тысячи лет индуизма, М., 1969. - С. 233. (Gods, Brahmans, people - four thousand years of Hinduism. Moscow, 1969. - P. 233).

[30] बनारसीलाल पाण्डेय, हिन्दू देवताओं के विविध रूप और वाहन, “आर्य” चौक, वाराणसी, संवत् संवत् 2037, पृष्ठ 80-81

[31] वही, पृष्ठ 80-81

(Mythological Dictionary / Ch.ed. E.M. Meletinsky., Moscow, 1990).
4. Боги, Брахмани, люди – четыре тысячи лет индуизма. М., 1969. ("Gods, Brahmans, people - four thousand years of Hinduism". Moscow, 1969).
5. Гринцер П.А. Древнеиндийский эпос. "Наука"., М., 1974. (Grintser P.A. "Ancient Indian epic". Moscow, 1974).
6. Хинди-русский словарь. В двух томах. Около 75 000 слов / Под ред. В. М. Бескровного. - М.,1972. (Hindi-Russian Dictionary. Two volumes. About 75,000 words / Ed. V. M. Beskrovny. - Moscow, 1972).
7. Ghose B., Kar A. and Hussain Z. The lost courses of the Sarasvati river in the Great Indian Desert: New evidence from Landsat imagery // The Geographical Journal. 1979. Vol. 145. Part 3.
8. Dowson J. A. Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, Geography, History and Literature. - London, 1928.
9. बनारसीलाल पाण्डेय, हिन्दू देवताओं के विविध रूप और वाहन, "आर्य" चौक, वाराणसी, संवत् संवत् 2037
10. *रामचन्द्र वर्म्मा, मानक हिन्दी कोश, पाँचवाँ खंड, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1991*
11. *कालिका प्रसाद सं., बृहत हिन्दी कोश, वाराणसी, जनवरी 1959*
12. http://www.foxdesign.ru/legend/i_gal.html
13. https://en.wikipedia.org/wiki/Sarasvati_River
14. http://orel.rsl.ru/nettext/russian/timoschuk/01.html#_ftn42
15. http://ru.wikipedia.org
16. http://mifolog.ru/mythology
17. https://ru.wikipedia.org/wiki/%D0%92%D0%B0%D1%87#cite_note-6

Teacher of the Department of Oriental Languages,
University of World Economy and Diplomacy
Uzbekistan

4

किन्नर समुदाय के अनछुए तथ्यों का सफल अंकन 'मैं हिजड़ा...मैं लक्ष्मी'

प्रो. एस.वी.एस.एस. नारायण राजू

यह सर्व विदित सत्य है कि तथाकथित सभ्य समाज में तृतीयपंथी व तृतीय लिंगी समुदाय को हाशियागत किया गया. जिसके कारण यह समुदाय शिक्षा, रोजगार, समाज, परिवार, रिश्ते-नाते, संस्कृति और सभ्यता से वंचित रहा. किन्नर समुदाय के अधिकांश बच्चों को जन्म से किसी न किसी किन्नर गुरु के हाथ सौंप दिया जाता है. परंतु उन सभी में से लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी की भी कहानी कुछ ऐसी ही है. वह अपनी आत्मकथा की आरम्भिक पंक्तियों में लिखती है- "ठाणे में मेरा घर है, येऊर की तलहटी के पास. घर की खिड़की से येऊर पर्वत को बिल्कुल बाँहों में भर सकते हैं, इतना नजदीक दिखाई देता है. मेरे घर की खिड़की और पर्वत, इनके बीच में एक छोटा-सा टीला है. हरी आस ओढ़े हुए. गाय-बखेरू हमेशा चरते हैं उस पर, हमेशा चहल-पहल रहती है. इस टीले पर...और इसीलिए वो जिन्दा लगता है ...इस जिंदा टीले पर एक पेड़ है. कौन-सा है, क्या पता. मैंने कभी जान-बूझकर जाकर देखा नहीं. अच्छा है. बारहों महीने हरा-भरा रहता है. सदाबहार. हवा के साथ लहलहाता है.... पर कोई पेड़ नहीं उसके साथ. इस ऊँचे पेड़ का अकेलापन इसीलिए आँखों में खलता है, बहुत बार कलेजे में टीस उठती है. इस पेड़ की तरफ देखते रहने पर मुझे लगता है, मेरी जिंदगी भी तो ऐसी ही है...सभी के साथ हूँ, पर फिर भी अकेली .. "[1] इस कथन में लक्ष्मी ही नहीं बल्कि किन्नर समुदाय के उन तमाम बच्चों की संवेदना प्रकट होती है. दैहिक विसंगति के कारण उस पेड़ की भांति सबके साथ रहकर भी सबसे भिन्न और अकेलापन महसूस करते हैं.

लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी का जन्म मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में सबसे पहले लड़के राजू के रूप में हुआ. बचपन में डॉक्टर ने लक्ष्मी को पुरुष लैंगिकता की श्रेणी में दर्ज किया. माता-पिता ने भी अपने घर के बड़े बेटे की भाँति उसका लालन-पालन किया तथा खूब लाड-प्यार के साथ शिक्षा और संस्कार दिए. किन्तु लक्ष्मी उर्फ राजू में उम्र के साथ हाव-भाव और चाल-चलन में बदलाव दृष्टिगोचर होने लगे. लक्ष्मी स्वयं जिस लिंग में पैदा हुआ उसमें कतई सहजानुभूति नहीं था. शारीरिक बदलाव के साथ उसके साथ आस-पास के रिश्तेदारों और सहपाठियों के व्यवहार भी ठीक नहीं था. लक्ष्मी के बचपन से लेकर किन्नर समुदाय से जुड़ने और उनके अधिकार प्राप्ति तक के सफर के विभिन्न पहलुओं को इस आत्मकथा में उजागर किया गया है।

राजू उर्फ लक्ष्मी बचपन में काफी बीमार रहता था इसके कारण काफी दुबला-पतला भी था. उसका सात वर्ष की उम्र पहली बार रिश्तेदार के लड़कों ने गाँव में यौन-शोषण किया. लक्ष्मी को डरा-धमकाकर घर भेज दिया गया कि यदि किसी को बता दिया तो उसकी और अधिक सजा मिलेगी. लक्ष्मी ने धीरे-धीरे अपने जीवन से अनचाहे लड़कों को दूर किया. वह अपनी लैंगिकता से परेशान होकर एक दिन अशोक राव कवि से मिलने जाती है. उन्होंने लक्ष्मी को प्रेरित करते हुए कहा था- "तुम एबनॉर्मल नहीं हो बच्चे, नॉर्मल ही हो. एबनॉर्मल है ये हमारे आस-पास की दुनिया...ये हमें समझ नहीं सकती. पर तुम उसके बारे में मत सोचो. यहाँ आये हो ना...अब हम मिलकर इसमें से रास्ता निकालेंगे. अब तुम जो

कर रहे हो, वही करो. अभी तुम बच्चे हो. पढ़ाई करो. डांस सीख रहे, वो सीखते रहो...कुछ भी बदलाव लाने की जरूरत नहीं है."[2] अर्थात् स्पष्ट है कि समाज और स्कूल में ऐसे बच्चों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है. जिसके कारण लैंगिक विकृति वाले बच्चे मानसिक प्रताड़ना के शिकार बन जाते है. लक्ष्मी जैसे समझदार अलैंगिक किशोर को इतनी समस्या का सामना करना पड़ा यदि इसके साथ सामान्य किन्नर बच्चों की क्या दशा होगी जिन्हें कोई माता-पिता भी स्वीकार नहीं करते है. इस प्रकार के सामाजिक और सहपाठियों के शोषण के साथ लक्ष्मी ने कॉलेज तक की पढ़ाई पूरी की और तन्मयता के साथ भरतनाट्यम का प्रशिक्षण देने की शुरुआत करते हुए आत्मनिर्भरता की तलाश में लगी रही.

बहुत सारे किन्नरों या ट्रांसजेंडर को मजबूरी में ही देह-व्यापार की ओर आगे बढ़ना पड़ता है किंतु लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी अपने बारे में कहती है- "मैंने बार में काम किया, पर सिर्फ डांसर के रूप में. मेरा डांस देखो...अच्छा लगा? फिर देखो. पर बस्स, उतना ही. अपने शरीर को किसी के छूने तक नहीं दिया मैंने. सेक्स वर्क तो बिल्कुल भी नहीं किया...कभी नहीं. ...पैसे लेकर अपने शरीर का सौदा नहीं किया मैंने. बचपन के कुछ साल छोड़ दूँ, तो अपने शरीर का मैं खुद ही मालिक था ...आज भी हूँ."[3] राजू का जीवन के शुरूआत से अब लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी बनने की शुरुआत बार में नृत्य कलाकार बनकर डांस करता है. वहीं लक्ष्मी अपने साथियों की जिंदगी को देखकर भी अत्यधिक हतोत्साहित होती है. जब लक्ष्मी अपने जैसे लोगों से घुलने-मिलने और उनके साथ उठते-बैठते अपने समुदाय को समझने लगी. किन्नर समुदाय का इतिहास और उनकी संस्कृति का गहन अध्ययन करने के बाद किन्नर बनने का निर्णय ले लेती है. अपनी सहेली शबीना के साथ किन्नर गुरु के पास जाती है और उन्हें बताती है- "मुझे चेला बनना है...कम्युनिटी में आना है...पर उसकी एडमिशन फी कितनी है? डोनेशन कितना देना होगा? ...लता नायक ने कहा, "नहीं बेटा, यहाँ फीस नहीं है, डोनेशन नहीं है. तुम्हें दिल से लगता है तो तुम चेला बन सकते हो."[4] इस प्रकार लक्ष्मी 1998 में लता गुरु की शिष्या बन जाती है. किन्नर समुदाय की परम्परानुसार गुरु 'जोग जनम' की साड़ी भेंट करके अपनी शिष्या के रूप में अपना लिया. लेकिन लक्ष्मी ने यह बात घरवालों से छुपाकर रखी थी.

सन् 2000 में समलिंगी से संबंधित धारा 377 के खिलाफ देशभर में आंदोलन शुरु हुआ. तब लक्ष्मी ने भी कुछ 'ट्रांसजेंडर' और 'गे' से संबंधित क्लब जॉइन किया और इस दौरान टी.वी. चैनल पर बाइट दिया तब घर में माता-पिता को सारी सच्चाई पता चला. जब लक्ष्मी घर पहुंची तब पिता की पहली प्रतिक्रिया थी- "अपनी चौदह पीढ़ियों में ऐसा किसी ने नहीं किया होगा. हमारा खानदान ब्राह्मण का है...उसके मान-सम्मान के बारे में तो कम से कम सोचना चाहिए था. तुम्हारी बहन की शादी हो गयी है. उसके घरवाले क्या कहेंगे ?"[5] इस प्रकार भारतीय माता-पिता का गुस्सा जायज है, क्योंकि इस प्रकार की सोच हमारे पूर्वजों के द्वारा ही विकसित की गई है. ऐसे लैंगिक विकृति वाले बच्चों को लैंगिक भेदभाव का दायरा तय करके मर्यादा के कटघरे में खड़ा कर देते हैं. जबकि इस प्रकार के बच्चों के साथ मानसिक रूप से सुदृढ़ता के साथ खड़े होने की सख्त आवश्यकता है.

लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी के पिता ने उसे एक बड़े बेटे के रूप में अवश्य स्वीकार किया था लेकिन किन्नर परिधान और परिवेश के अंतर्गत अपने बेटे को नहीं देखना चाहते थे. किंतु संघर्षशील राजू ने लक्ष्मी बनने का सफर तय ही नहीं किया बल्कि जन्मजात माता-पिता की

जिम्मेदारी के साथ किन्नर समुदाय में गुरु-शिष्यों की परम्परा रूपी दोनों नावों में सवार होकर आगे बढ़ने का हौंसला बनाया. उसने भरतनाट्यम की शिक्षा प्राप्त करके अपनी पहचान स्थापित की थी. साथ ही साथ दाई वेलफेयर सोसायटी, अस्तित्व, गरिमा जैसी संस्थाओं में किन्नर समुदाय के हित हेतु निरंतर आगे बढ़ती रही.

मुख्यधारा की समाज में लिंगीय अल्पसंख्यकों को वैसे तो आगे बढ़ने के अवसर न के बराबर मिले लेकिन लक्ष्मी जैसे किन्नर ने अपने समुदाय के लिए अनेकानेक द्वार खोल दिए. लक्ष्मीनारायण ने समय के साथ धन-दौलत और शौहरत तीनों कमाए. वह निरंतरता के साथ देश और विदेश में भारतीय तिरंगे का मान बढ़ाती रही. "दाई वेलफेयर सोसायटी की अध्यक्षा के तौर पर मेरा नाम भी था. उस पूरी कॉन्फ्रेंस में मैं अकेली हिजड़ा थी और भारत के सभी हिजड़ों का प्रतिनिधित्व कर रही थी. मेरे लिए तो गर्व की बात तो थी, पर वैश्विक स्तर पर हमें प्रतिनिधित्व कर रही थी. मेरे लिए तो ये गर्व की बात तो थी ही, पर वैश्विक स्तर पर हमें प्रतिनिधित्व मिल रहा है, ये सभी हिजड़ों के लिए गर्व की बात थी ।"[6] लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने 'बिटवीन द लाइन्स' जैसी फिल्म में अहम भूमिका निभाई और इसके साथ भारत में एच.आई.वी. स्थिति पर युनाईटेड नेशन्स के कॉन्फ्रेस में भारत की संपूर्ण भारतीय समाज के किन्नर समाज की तरफ से अकेली प्रतिनिधित्व कर रही थी. लेकिन 2006 में भारतीय समाज किन्नरों की शिक्षा, यातायात, आधुनिक सुविधा जगत के प्रति इतना सचेत और सहयोगी नहीं था किंतु लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी ने पासपोर्ट जैसी सुविधा प्राप्त करने की माँग की, तब पढ़े-लिखे सरकारी कर्मचारियों ने लक्ष्मी का बखूबी सहयोग किया. जिसके कारण लक्ष्मी को आगे बढ़ने और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनाने में थोड़ी राहत अवश्य मिली. वर्तमान समय में किन्नर समुदाय जितना जागरूक है उतना 10-15 साल पहले उतने सर्तक और जागरूक नहीं थे.

लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी को एक तरफ मुख्यधारा के समाज में संघर्ष करना पड़ रहा था उससे कहीं अधिक अपने समाज के लोगों में भी संघर्ष करना पड़ रहा था. किन्नरों की शिष्य पररम्परा के अंतर्गत गुरु का आदेश सर्वोपरि माना जाता है. उसकी गुरु पारम्परिक व रूढ़ मान्यताओं से ग्रसित थी. उस पर अनेक प्रकार के बंधन लगाए रखना चाहती थी किंतु उन सबको लक्ष्मी ने अपने किन्नर समुदाय ही नहीं देश हित के लिए खंडन करते हुए आगे बढ़ने का प्रयास किया. जैसाकि लक्ष्मी के गुरु और लक्ष्मी का मत -"क्या जरूरत है इतना सामने आने की? हम भले, हमारा समाज भला और अपना काम भला। लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता था. बाकी समाज में हम जितना घुल-मिल जाएँगे, समाज हमें और भी उतना जानने लगेगा, ऐसा मुझे लगता था. ऐसी दुविधापूर्ण मनःस्थिति में मैं थी."[7] लक्ष्मी के गुरु की तरह संकीर्ण मानसिकता के किन्नर आज भी समाज में है, और यह उनके समुदाय में ही नहीं बल्कि मुख्यधारा के समाज में ऐसी सोच व्याप्त है. इस तरह की मानसिकता का कारण शिक्षा की कमी और अफवाहों में अत्यधिक विश्वास ही है. समयानुसार लक्ष्मी ने विभिन्न परिस्थितियों का सामना करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचने का सफल प्रयास किया. अत्यंत लग्न और निष्ठा के कारण टोरंटो, अमेरिका, न्यूयार्क, नीदरलैंड, थाइलैंड, मलेशिया जैसे देशों में भारत की तरफ से सदस्य बनकर जाने और कार्यक्रमों में हिस्सा लेने का अवसर मिला. इन यात्राओं के दौरान लक्ष्मी ने भारतीय किन्नर समुदाय के लोगों को भी मंच पर प्रस्तुति देने और अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने का अवसर दिलाया. लक्ष्मी को अन्तर्राष्ट्रीय 'सिविल सोसायटी टास्क फोर्स' द्वारा 'एशिया पैसिफिक नेटवर्क फॉर सेक्स वर्कर्स' की

सदस्या बनाया गया.

इसके अलावा लक्ष्मी ने अलग-अलग टी.वी. चैनलों में साक्षात्कार दिए तथा भारतीय ट्रांसजेंडर एक्टिविस्ट के रूप में अपनी पहचान स्थापित की. उसने मीडिया के माध्यम से लोगों के दिलों तक पहुंचने का सराहनीय प्रयास किया. इसके साथ समाज कल्याण की भावना से आम जनता की सहयोगी बनने का लगातार प्रयास करती दिखाई देती हैं. उन्होंने लघु फिल्म, धारावाहिक, भरतनाट्यम और रिऑलिटी शो में हिस्सा लेकर तृतीयपंथियों की पहचान बढ़ायी. लक्ष्मी का मानना है कि- "मैंने तय किया, इन ताकतवर माध्यमों का रिऑलिटी टीवी का उपयोग मुझे अपने समाज की 'विजिबिलिटी' बढ़ाने के लिए करना है. हिजड़े जितने सहज दिखेंगे, जितना उनसे संवाद होगा, उतनी है उनके बारे में गलतफहमी दूर होगी."[8] इस प्रकार लक्ष्मी ने सलमान खान के चर्चित शो 'दस का दम' में हिस्सा लिया.इस शो के माध्यम से लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी से लोगों को उसके समाज और परिवार के बारें में बहुत कुछ समझने और जानने को मिला. क्योंकि इस शो में सच का सामना करना पड़ता था तो लक्ष्मी के साथ-साथ उसके पिताजी से भी कुछ सवाल-जवाब हुए थे. इस संदर्भ में लक्ष्मी के पिता का मत था कि- "अपने ही बेटे को मैं घर से बाहर क्यों निकालूँ? मैं बाप हूँ उसका, मुझ पर जिम्मेदारी है उसकी. और ऐसा किसी के भी घर में हो सकता है. ऐसे लड़कों को घर से बाहर निकालकर क्या मिलेगा? उनके सामने तो हम भीख माँगने के अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ते हैं. लक्ष्मी को घर से बाहर निकालने का सवाल ही नहीं पैदा होता. अपने सभी बच्चों को मैंने कुछ बातें हमेशा बतायी हैं...जैसे ईमानदारी सबसे ऊँचा मूल्य है. जो जिंदगी जीनी है वह ईमानदारी से जियो..."[9] अर्थात् लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी की तरह यदि उन तमाम किन्नरों के माता-पिता की सोच सकारात्मकता भरी होती तो शायद उन किन्नरों को दयनीय दशा का शिकार नहीं होना पड़ता.

'मैं हिजड़ा...मैं लक्ष्मी' आत्मकथा लक्ष्मी-नारायण त्रिपाठी का जीवन चरित का सफल अंकन ही नहीं करती बल्कि किन्नर समुदाय और सेक्स वर्कर्स्, बार बालाओं के जीवन को पारदर्शिता के साथ उनकी स्थिति समाज के सामने प्रस्तुत करती है. यह आत्म कथा आम परिवार में जन्म लेने वाले किन्नर को जिम्मेदार बेटे की भूमिका का सफल चित्रण करती है. इसके अलावा भारतीय किन्नर समुदाय का प्रतिनिधित्व करने वाली राजू से बनी लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी का वास्तविक संघर्ष और उसकी सफलता का उदाहरण को पेश करती है. धारा 377 हटाने और भारत में किन्नर समुदाय को 'तृतीय लिंग' का दर्जा व उनके अधिकार दिलाने में किस प्रकार लक्ष्मी और उनके साथियों का संघर्ष रहा, उन तमाम घटनाओं को विस्तार से बताती है. इन सब घटनाक्रमों के साथ किन्नर समुदाय की कमियाँ और रूढ़िवादी सोच के कारण पिछड़ेपन का कारण भी उजागर करती है. लक्ष्मी ने अपनी आत्मकथा में किन्नर रीति-रिवाज और सांस्कृतिक जीवन को बखूबी विस्तारपूर्वक ढंग से चित्रित किया है. किन्नरों की आर्थिक, सामाजिक, राजनैनिक समस्या को भी सामाजिक और शैक्षणिक पटल पर रखने का प्रयास बड़े तथ्यात्मक ढंग से किया है. इन सबके साथ इस आत्मकथा में लक्ष्मी का सकारात्मकता और विश्वास के साथ आगे बढ़ने का हौंसला किन्नर समुदाय ही नहीं बल्कि मुख्यधारा के समुदाय के लिए भी प्रेरणादायक कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है. जिस प्रकार लक्ष्मी का मानना है- "अपना इतिहास यही तो बताता है ...समाज में हर बड़ा बदलाव किसी बड़ी लड़ाई के बाद ही आता है. अर्थात् ये लड़ाई सामाजिक है, वैचारिक है...हम

भी ऐसी लड़ाई लड़ रहे हैं...हौंसले के साथ, निराश न होकर लड़ रहे हैं और हमें जो चाहिए, वो हासिल करने की कोशिश कर रहे हैं."[10] अर्थात् प्रस्तुत आत्मकथा लक्ष्मी के बचपन से लेकर किशोरावस्था, युवावस्था के साथ प्रौढ़ावस्था का संघर्ष, समर्पण, सफलता, आशा, विश्वास, प्रेरणा और जीवन के उतार-चढ़ावों का दस्तावेज है. जो तमाम लोगों को जीवन मूल्य और जीवन की सार्थकता को बनाए रखने का गुर व हुनर सिखाता है. इसमें भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के किन्नरों के जीवन की समानता–असमानता के साथ धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक कारणों से किन्नर समुदाय के साथ होने वाले भेदभाव और उनकी यथार्थ स्थिति को लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने सफलतापूर्वक चित्रण किया है.

संदर्भ :

1. 'मैं हिजड़ा...मैं लक्ष्मी', लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी, पृ.सं. 25
2. वही, पृ.सं. 30
3. वही, पृ.सं. 47
4. वही, पृ.सं. 51
5. वही, पृ.सं. 54
6. वही, पृ.सं. 69
7. वही, पृ.सं. 69
8. वही, पृ.सं. 105
9. वही, पृ.सं. 108
10. वही, पृ.सं. 115

आधार ग्रंथ

'मैं हिजड़ा...मैं लक्ष्मी', लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी, अनुवादक डॉ. शशिकला राय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

हिंदी विभाग,
तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
तिरुवारुर, तमिलनाडु

5 गया तीर्थ के विष्णुपद की उत्पत्ति

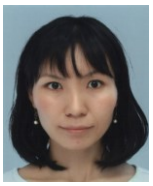

तोमोका मुशिगा

बिहार के एक तीर्थस्थल, गया में अपने पूर्वजों को मोक्ष दिलाने के लिए देश-विदेश से लोग आते हैं। विष्णुपद मंदिर, जिसमें भगवान विष्णु का पदचिह्न विराजमान है, आज के गया में सबसे उत्तम स्थान माना जाता है। काले पत्थर से बने मंदिर का निर्माण इंदौर की मराठा रानी अहिल्या बाई होलकर ने 1783 ई. के आसपास किया था (चक्रवर्ती 1975: 18)।[1]

विष्णुपद मंदिर

विष्णुपद

गया को प्राचीन काल से आज तक श्राद्ध कर्म के लिए सर्वोत्तम स्थान माना जाता है।[2] प्रत्युत विष्णुपद की श्रेष्ठता तो प्राचीन समय में दिखाई नहीं देती है। विष्णुपद का सबसे पुराना उल्लेख चौथी-पाँचवी शताब्दी ई. पू. के यास्क के *निरुक्त* (12.19) में मिलता तो है किन्तु उससे गया के विष्णुपद का संबंध नहीं मान सकते हैं।[3] *गयामाहात्म्य* की रचना के बाद ही गया वैष्णव संप्रदाय का तीर्थ बना। मेरे विश्लेषण के अनुसार *गयामाहात्म्य* 11वीं शताब्दी ई. के आसपास रचा गया था। *गयामाहात्म्य* के वर्णन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि वैष्णव रचयिता ने शैव मत, जो पहले गया में प्रभावशाली था, उसका विरोध करके अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए यह रचा था। *गयामाहात्म्य* और इससे पहले के ग्रंथों को देखते हुए इस लेख में एक परिकल्पना प्रस्तुत करना चाहती हूँ -विष्णुपद की उत्पत्ति रुद्रपद, जो *गयामाहात्म्य* की रचना के पहले से गया में था, उसका महत्त्व कम करने के लिए ही हुई थी।

वर्तमान गया के विभिन्न उपतीर्थों (मंदिर, पर्वत, तालाब और नदी) और गया की तीर्थयात्रा की विधि में *गयामाहात्म्य* का बड़ा प्रभाव दिखाई देता है। और *गयामाहात्म्य* में ही रची गई गयासुर की कहानी को आज के लोग भी गया की उत्पत्ति बताने वाली कथा के रूप में मानते हैं। *गयामाहात्म्य* के दूसरे अध्याय के अनुसार इस कथा का सार नीचे दिया जाता है।

> "विष्णु के एक भक्त गयासुर (गय नामक असुर) ने कोलाहल पर्वत में हज़ारों वर्षों की तपस्या की थी। उसकी तपस्या की तीव्रता से देवी-देवता घबराकर विष्णु के शरण में आए। फिर विष्णु सहित सभी देवताओं ने गयासुर के पास जाकर उससे वर माँगने को कहा। तब असुर ने कामना की कि

उसका शरीर सभी पवित्र वस्तुओं से अधिक पवित्र बने। इसके पूरा होने पर, गयासुर के शरीर को छूने से ही हर व्यक्ति और जीव-जंतु तुरंत ब्रह्मलोक चले गए और तीनों लोक और यमलोक खाली हो गए। दुखित यम अन्य देवताओं के साथ विष्णु के पास आए, तब विष्णु ने गयासुर के शरीर पर यज्ञ करने की सलाह दी। जब ब्रह्मा ने गयासुर से अनुरोध किया, तो गय सहर्ष यज्ञ की वेदी के रूप में लेट गया। यज्ञ की सामग्री इकट्ठा करके ऋत्विजों का सृजन करने के बाद ब्रह्मा ने यज्ञ शुरू किया। फिर गयासुर का शरीर काँप उठा। इसको शांत करने के लिए ब्रह्मा ने यमराज से अपने घर से एक शिला लाकर असुर के सिर पर रखवाई । सभी देवी-देवता आकर शिला पर चढ़े, परन्तु गय का हिलना बंद नहीं हुआ। तब विष्णु जनार्दन और पुंडरीकाक्ष के रूप में आए और शिला पर खड़े हो गए। यहाँ विष्णु को आदिगदाधर कहा जाता है क्योंकि वह भगवान आदि-गदा (primordial mace) धारण करते हैं। जब देवताओं ने गयासुर को वर माँगने को कहा, तो गय ने वरदान माँगा कि उसके शरीर पर सभी देवता और विभिन्न तीर्थ सदा रहें, यह स्थल उसके नाम से ही जाना जाए और जो लोग यहाँ श्राद्ध कर्म करेंगे वे सब ब्रह्मलोक पा सकें। देवताओं ने उसकी आशा को स्वीकार किया तब गयासुर प्रसन्न हो गया। यज्ञ के समापन के बाद, ब्रह्मा ने ऋत्विजों को भरपूर दक्षिणा देते हुए फिर कभी किसी यज्ञ में जाकर दक्षिणा नहीं लेने का वादा करवाया। परन्तु ऋत्विजों ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। ब्रह्मा से उन्होंने जो कुछ पाया वह सब नष्ट हो गया। दु:खी होकर वे ब्रह्मा के पास आए तब ब्रह्मा ने उन सबों की जीवनवृद्धि के रूप में इस भूमि पर आने वाले तीर्थयात्रियों से दान लेने का अधिकार दिया।“

गया में बेचा जाने वाला चित्रित नक़्शा वास्तविक गयातीर्थ और पौराणिक गयासुर की कथा के संबंध को दिखाता है। ऐसा माना जाता है कि जब विष्णु गयासुर को शांत करने के लिए उसके सिर पर रखी शिला के ऊपर खड़े हुए तभी का पदचिह्न आज का विष्णुपद है।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि *गयामाहात्म्य* की रचना 11वीं शताब्दी ई. के आसपास हुई थी। इस तथ्य का आधार यह है कि 11वीं शताब्दी ई. के पाँच शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो स्पष्ट रूप से

गयामाहात्म्य के वर्णन से संबंधित हैं। ये शिलालेख विश्वरूप नामक ब्राह्मण और उनके पुत्र यक्षपाल द्वारा किए गए मंदिर के निर्माण के बारे में बताते हैं (Sircar 1970)। इनसे पता चलता है कि लगभग 1053 ई. में गदाधर और जनार्दन नाम की महत्त्वपूर्ण विष्णु प्रतिमाओं के निर्माण हुए। आज भी गदाधर मंदिर में पाल काल की चतुर्भुज विष्णु की सुंदर मूर्ति है। यह विष्णुपद मंदिर के पीछे स्थित है और विष्णुपद मंदिर की लोकप्रियता की छाया में छिपा हुआ है।[4] प्रत्युत *गयामाहात्म्य* में विष्णुपद से अधिक महत्त्व गदाधर को दिया जाता है। *गयामाहात्म्य* बताता तो है कि विष्णुपद का दर्शन और स्पर्श और वहाँ के श्राद्ध कर्म यात्रियों के कर्तव्य हैं (7.52–54ab) पर इसका पाँचवाँ अध्याय गदाधर की कथा और स्तुति से भरा हुआ है। जैसा कि शुरुआत में उल्लेख किया गया है, विष्णुपद मंदिर का वर्तमान स्वरूप अहिल्या बाई द्वारा 18वीं शताब्दी के अंत में दिया गया था। *गयामाहात्म्य* की रचना काल में अर्थात् गदाधर प्रतिमा के निर्माण के समय, गदाधर मंदिर अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। सी. जैक्स, जिन्होंने *गयामाहात्म्य* का संस्करण बनाया, उन्होंने स्पष्ट किया है कि विष्णुपद का उल्लेख *गयामाहात्म्य* से पहले के ग्रंथों में कहीं नहीं मिल सका है (Jacques 1980: 35–37, 44, 51)। परन्तु, विष्णुपद पर अधिक ध्यान देने से उन्होंने यह गलत निष्कर्ष निकाला कि 13वीं से 15वीं शताब्दी के बीच में ही गया वैष्णव संप्रदाय का तीर्थ बना (ibid: 63)।

गयामाहात्म्य की रचना एक स्वतंत्र कृति के रूप में की गई थी और इसे *वायु-पुराण* (2.43–50) के अंत में 15वीं शताब्दी से पहले सम्मिलित किया गया था।[5] इसके अलावा, *गरुड़-पुराण* (1.82–86), *अग्नि-पुराण* (114–116), और *नारदीय-पुराण* (2.44–47) में भी गया का लंबा वर्णन है जिसे गयामाहात्म्य कहा जाता है।[6] उनके बीच के मतभेदों का विश्लेषण करके जैक्स ने ठीक से निष्कर्ष निकाला है कि *गरुड़-पुराण* का गयामाहात्म्य स्वतंत्र *गयामाहात्म्य* से पहले बना है और *अग्नि-पुराण* में स्वतंत्र *गयामाहात्म्य* का सार बनाया गया। *नारदीय-पुराण तीर्थचिंतामणि* (नोट 5 देखें) से गया का वर्णन लिया है जिसने *वायु-पुराण* के गयामाहात्म्य (=स्वतंत्र *गयामाहात्म्य*) से कई श्लोकों को उद्धृत किया है (Jacques 1980: 39, 43–44)। चार गयामाहात्म्यों में वर्णित तीर्थयात्रा की विधि में, विभिन्न पद श्राद्ध और अन्य कर्मों को करने के स्थलों के रूप में दिए गए हैं।

पद का नाम	***गरुड़-पुराण*** **1.84.22–26**	***गयामाहात्म्य*** **7.52–61**	***अग्नि-पुराण*** **115.46–53**	***नारदीय-पुराण*** **2.45.19–28**
विष्णुपद	--	दर्शन, स्पर्श, श्राद्ध (52–54ab)	श्राद्ध (49)	दर्शन, स्पर्श, श्राद्ध (19-20)
रुद्रपद	'रुद्रपदादिषु' श्राद्ध (22d), स्पर्श (26ab)	श्राद्ध (54cd–55a)	स्पर्श (46ab), पिण्ड दान (48cd)	श्राद्ध (21ab)
ब्रह्मपद	--	श्राद्ध (55bcd)	श्राद्ध (50ab)	(श्राद्ध) (21cd)
कश्यपपद	पाँचाग्नि[पद]	श्राद्ध (61ab)	--	(श्राद्ध) (27-28)

दक्षिणाग्निपद	और तीन पदों (सूर्य, इन्दु, कार्तिकेय) में श्राद्ध (23)	श्राद्ध (56ab)	(50c)	श्राद्ध (22ab)
गार्हपत्यपद		श्राद्ध (57ab)	(50d)	श्राद्ध (22cd)
आहवनीयपद		श्राद्ध (56cd)	श्राद्ध (51ab)	--
सभ्यपद		श्राद्ध (57cd)	--	श्राद्ध (23cd)
आवसथ्यपद		श्राद्ध (58ab)	(51c)	श्राद्ध (24ab)
शक्रपद		श्राद्ध (60ab)	--	--
अगस्त्यपद		श्राद्ध (60cd)	श्राद्ध (52ab)	श्राद्ध (26cd)
क्रौंचपद		श्राद्ध (59cd)	--	--
चंद्रपद		--	(51c)	श्राद्ध (23ab, 24cd)
सूर्यपद		श्राद्ध (58cd)	(51d)	श्राद्ध (25cd)
गणपद		--	(51d)	--
कार्त्तिकेयपद		श्राद्ध (59ab)	श्राद्ध (52ab)	श्राद्ध (26ab)
अन्य पद		श्राद्ध (61cd)	--	श्राद्ध (25ab)
कनकेशपद		--	दर्शन (53ab)	--

उपरोक्त सूची से स्पष्ट है कि *गरुड़-पुराण* में विष्णुपद का कोई उल्लेख नहीं है, बल्कि रुद्रपद और अन्य स्थलों पर श्राद्ध करने का निर्देश दिया जाता है। आज के विष्णुपद मंदिर में विष्णुपद के अतिरिक्त विभिन्न पद "सोलह वेदी" नामक स्थान में शामिल हैं। प्रत्येक खंभों पर पदों के नाम दिए जाते हैं।

सोलह वेदी

तीर्थचिंतामणि, जो *गयामाहात्म्य* को *वायु-पुराण* के रूप में उद्धृत करने वाला पहला धर्मनिबंध

है, विष्णुपद को उद्धृत करते हुए कहता है कि श्राद्धादि कर्म रुद्रपद से आरम्भ करके फिर विष्णुपद में करना चाहिए, क्योंकि *गरुड़-पुराण* पहले रुद्रपद का ही उल्लेख किया है।[7] इसलिए जैक्स कहते हैं कि "विष्णुपद की प्रधानता वाचस्पति मिश्र के समय तक पूरी तरह से स्थापित नहीं हुई थी" (Jacques 1980: 50)। परन्तु *गरुड़-पुराण* के अतिरिक्त *अग्नि-पुराण* का गयामाहात्म्य, जो स्वतंत्र *गयामाहात्म्य* के बाद बनाया गया है, पदों का वर्णन रुद्रपद से ही शुरू करता है।

दो पुराणों की रुद्रपद की पूर्ववर्णितता विष्णुपद पर रुद्रपद की श्रेष्ठता का संकेत नहीं है, बल्कि शिव के पदचिह्न पर विचार करती है, जो गया में *गयामाहात्म्य* के समय के पहले से पूजित था। इन दो पुराणों में रुद्रपद का संदर्भ इस तरह मिलता है। यह स्वतंत्र *गयामाहात्म्य* में नहीं है।

अग्नि-पुराण 115.43–49: तत्र पिण्डप्रदानेन कुलानां शतमुद्धरेत् । मुण्डपृष्ठे पदं न्यस्तं महादेवेन धीमता।43। मुण्डपृष्ठे शिरः साक्षाद्गयाशिर उदाहृतम्। साक्षाद्गयाशिरस्तत्र फल्गुतीर्थाश्रमं कृतम्।44। अमृतं तत्र वहति पितृणां दत्तमक्षयम्। स्नात्वा दशाश्वमेधे तु दृष्ट्वा देवं पितामहाम्।45। रुद्रपादं नरः स्पृष्ट्वा नेह भूयोऽभिजायते। शमीपत्रप्रमाणेन पिण्डं दत्त्वा गयाशिरे।46। नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयुः।47ab। ... पिण्डं दत्त्वा रुद्रपदे कुलानां शतमुद्धरेत्।48। तथा विष्णुपदे श्राद्धपिण्डदो ह्यृणमुक्तिकृत्। पित्रादीनां शतकुलं स्वात्मानं तारयेन्नरः।49।

(43) वहाँ (गयाशिरस् पर) पिण्ड चढ़ाने से वह सौ पीढ़ियों का उद्धार करेगा। बुद्धिमान महादेव ने मुण्डपृष्ठ पर अपना पदचिह्न रखा। (44) मुण्डपृष्ठ पर एक सिर दिखाई देती है जिसे गयाशिरस् कहा जाता है। जहाँ गयाशिरस् दिखाई देती है वहाँ फाल्गुतीर्थ नामक एक आश्रम बनाया गया है। (45) वहाँ अमृत प्रवाहित होता है और पितरों को जो अर्पण किया जाता है वह अविनाशी होता है। यदि कोई व्यक्ति दशाश्वमेध में स्नान करके पितामह की पूजा करता है, (46-47ab) और रुद्रपद को छूता है, तो वह इस दुनिया में फिर से पैदा नहीं होगा। यदि कोई गयाशिरस् पर शमी के पत्तों के आकार का एक पिण्ड अर्पित करता है, तो जो लोग नरक में हैं वे स्वर्ग में जाएँगे और जो स्वर्ग में हैं उन्हें मुक्ति मिलेगी। (पिण्ड की सामग्री के बारे में कुछ वर्णन) (48cd) यदि कोई रुद्रपद में एक पिण्ड अर्पित करता है, तो वह सौ पीढ़ियों का उद्धार करेगा। (49) इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति विष्णुपद में श्राद्ध और पिण्डदान करता है, तो वह अपने ऋणों से मुक्त हो जाएगा और अपने पूर्वज और स्वयं सहित सौ पीढ़ियों का उद्धार करेगा।

इन दो पुराणों में मिला वाक्यांश "बुद्धिमान महादेव ने मुण्डपृष्ठ पर अपना पदचिह्न रखा।" *वायु-पुराण* 2.15 में भी पाया जाता है जो श्राद्ध के लिए उपयुक्त स्थानों की सूची देता है। इस अध्याय का समान वर्णन *ब्रह्मांड*-पुराण 2.3.13 में भी मिलता है। इसलिए ऐसे समझ सकते हैं कि यह अध्याय *वायु-पुराण* के सबसे प्राचीन भाग में शामिल है। आर. सी. हाज़रा का अनुमान है कि *वायु-पुराण* में श्राद्ध पर वर्णन किए गए अध्याय तीसरी शताब्दी ई. के मध्य में बने हैं (Hazra 1975: 16)।

वायु-पुराण 2.15.102–103: मुण्डपृष्ठे पदं न्यस्तं महादेवेन धीमता। बहून्देवयुगांस्तस्वा तपस्तीव्रं सुदुश्चरम्।102।अल्पेनाप्यत्र कालेन नरो धर्मपरायणं। पाप्मानमुत्सृजत्याशु जीर्णत्वचमिवोरगः ।103।

(102) कई देव-युगों तक बहुत कठोर तपस्या करने के बाद, बुद्धिमान महादेव ने मुण्डपृष्ठ पर अपना पदचिह्न रखा। (103) बहुत ही कम समय के भीतर, एक धर्मी व्यक्ति अपने पाप को जल्दी से त्याग देता है, जैसे कि सर्प अपनी त्वचा को उतार देता है।

आज के विष्णुपद मंदिर में विष्णुपद पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जबकि अन्य पदों को सोलह वेदी में जोड़ा जाता है। परन्तु यह शिव का पद था जो *गयामाहात्म्य* की रचना के पहले से गया में प्रसिद्ध था। *गयामाहात्म्य* ने गयासुर की कथा का आविष्कार किया और बताया कि कैसे गय के सिर पर रखी शिला पर देवताओं के पदों के निशान आए।[8]

जहाँ महादेव ने अपना पदचिह्न रखा वह मुण्डपृष्ठ किस स्थान पर स्थित है? यह पता करना कठिन है। वर्तमान गया में, विष्णुपद मंदिर के पश्चिम स्थित करसिल्ली नामक छोटी पहाड़ी पर मुण्डपृष्ठ नाम का एक मंदिर है। एक छोटे से नए भवन में एक साधारण कंक्रीट के मंच पर, देवताओं की कुछ मूर्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं, जिनमें बारह भुजाओं वाली दुर्गा की एक मूर्ति और छह और आठ भुजाओं वाली चामुण्डा की दो मूर्तियाँ शामिल हैं। परन्तु आज के मुण्डपृष्ठ मंदिर को *वायु-पुराण* 2.15 में वर्णित मुण्डपृष्ठ मानने और समझने के लिए विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। मेरे विश्लेषण के अनुसार *गयामाहात्म्य* की रचना से पहले गया का केंद्र ब्रह्मयोनी पर्वत सहित पहाड़ी क्षेत्र था और मुझे लगता है कि मुण्डपृष्ठ भी वहीं पर था।

गया के रुद्रपद का और उल्लेख *कूर्म-पुराण* में मिलता है। इस पुराण के अध्याय 2.34–42 विभिन्न तीर्थों के बारे में बताते हैं। इसमें गया को शैव तीर्थ के रूप में वर्णित किया गया है। शिला के ऊपर रुद्र का पद रखा गया था।

कूर्म-पुराण 2.34.7–9: गयातीर्थं परं गुह्यं पितृणां चाति वल्लभम्। कृत्वा पिण्डप्रदानं तु न भूयो जायते नरः।7। सकृद्गयाभिगमनं कृत्वा पिण्डं ददाति यः। तारिताः पितरस्तेन यास्यन्ति परमां गतिम्।8। तत्र लोकहितार्थाय रुद्रेण परमात्मना। शिलातले पदं न्यस्तं तत्र पितॄन्प्रसादयेत्।9।

(7) गया-तीर्थ उत्तम रहस्यमय है। यह पितरों को परम प्रिय है। जो व्यक्ति वहाँ पिण्ड चढ़ाता है, उसका नया जन्म नहीं होता है। (8) वह जो गया आकर एक बार भी पिण्ड अर्पित करता है, वह अपने सभी पूर्वजों को तारता है। और उसी से वे सबसे उत्तम अवस्था को प्राप्त करेंगे। (9) जगत् के कल्याण के लिए परमात्मा रुद्र ने अपना पदचिह्न शिला के ऊपर रखा था। वहाँ पितरों को प्रसन्न करना चाहिए।

वायु-पुराण और *कूर्म-पुराण* के वर्णन में शिव के पदचिह्न मुण्डपृष्ठ या शिला के ऊपर रखा गया था। *गयामाहात्म्य* में शिव के पदचिह्न और मुण्डपृष्ठ को गयासुर के साथ जोड़ा गया है जैसे कि विष्णु और विभिन्न देवता (शिव सहित) गयासुर के सिर पर रखी शिला पर खड़े हुए हैं। *गयामाहात्म्य* के

तीसरे और चौथे अध्यायों में उस शिला की उत्पत्ति की कथा बताई गई है। धर्मव्रता, जो अपने पति मरीचि के शाप से शिला में बदल गई थी, ने घोर तपस्या की। उसकी तपस्या की तीव्रता से घबराकर देवता विष्णु के साथ धर्मव्रता के पास गए और उससे वर माँगने को कहा। उसकी इच्छा में एक यह थी कि देवता पदों के रूप में शिला पर सदा रहें। यह सुनकर देवताओं ने कहा कि "जब तुम गयासुर के सिर पर रहोगी तब पदों के रूप में हम तुम्हारे ऊपर रहेंगे (*गयामाहात्म्य* 3.52)[9]। शिव के पदचिह्न के महत्त्व को कम करने के लिए, *गयामाहात्म्य*कार ने वैष्णव की आस्था को प्रमुखता देते हुए देवताओं के पदों को नई कहानी में शामिल करके गयासुर की कथा बनाई होगी। *गयामाहात्म्य* में पुराने मुण्डपृष्ठ को गयासुर का सिर समझकर इस कहानी में शामिल किया। *गयामाहतम्य* में शिला की उत्पत्ति की कथा निम्नलिखित वर्णन के साथ समाप्त होती है।

> *गयामाहात्म्य* 4.12: दैत्यस्य मुण्डपृष्ठे तु शिला यस्माच्च संस्थिता। तस्मात्स मुण्डपृष्ठाद्रिः पितृणां ब्रह्मलोकदः।।
>
> (12) शिला को राक्षस (गयासुर) के मुण्डा सिर के शीर्ष पर रखा गया था। इसलिए, यह मुण्डपृष्ठ पर्वत के रूप में स्थित है, जो पूर्वजों को ब्रह्मलोक देनेवाला है।

इस लेख में गया के सबसे उत्तम तीर्थस्थल माने जाने वाले विष्णुपद की उत्पत्ति पर विचार किया गया है। *गयामाहात्म्य* की रचना से पहले गया वैष्णव तीर्थ नहीं था, और *गयामाहात्म्य* के समय पर भी विष्णुपद का उतना महत्त्व नहीं था जितना आज है, बल्कि गदाधर मंदिर की ही श्रेष्ठता थी । स्वतंत्र *गयामाहात्म्य* से पहले रचित *गरुड़-पुराण* के गयामाहात्म्य में विष्णुपद का कोई उल्लेख नहीं है और रुद्रपद पर किए जाने वाले कर्म का उल्लेख सबसे पहले ही किया गया है। यह शैव आस्था की प्रधानता नहीं दिखाता है जैसा कि जैक्स ने ग्रहण किया था, बल्कि गया के वैष्णव तीर्थ बनने के पहले से ही स्थित रुद्रपद का उल्लेख करने के लिए था। *वायु-पुराण* के प्राचीन भाग और *कूर्म-पुराण* में वर्णन है कि शिव (महादेव या रुद्र) ने अपने पदचिह्न मुण्डपृष्ठ या शिला के ऊपर स्थापित किया था। *गयामाहात्म्य* के रचनाकार को शिव के इस पदचिह्न के बारे में पता था और इसने गयासुर की कथा का निर्माण किया, जिसमें देवताओं ने आकर असुर के सिर पर रखी शिला पर अपने पदों के निशान छोड़े। विष्णु को श्रेष्ठ बनाया और शिव को तो कई अन्य देवताओं में शामिल कर दिया। विष्णुपद की उत्पत्ति रुद्रपद की पूर्वतर उपस्थिति के कारण हुई होगी।

नोट :

1. ऐसा कहा जाता है कि विष्णुपद मंदिर के निर्माण के लिए गया शहर के पास पत्थरकट्टी नामक गाँव से काले पत्थर लाए गए थे और मंदिर का निर्माण राजस्थान से बुलाए गए कारीगरों द्वारा किया गया था। आज भी कारीगरों के वंशज गया में रहते हैं और मूर्तियाँ बनाने के व्यवसाय में लगे हुए हैं। मंदिर के शिखर पर भूमिज शैली को स्वीकार किया है, जो विशेष रूप से मालवा क्षेत्र में फैली हुई है, जिसमें पश्चिमी मध्य प्रदेश और दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के कुछ हिस्से शामिल हैं।
2. गया का एक तीर्थस्थान के रूप में सबसे पहला उल्लेख *वसिष्ठ-धर्मसूत्र* में मिलता है, जिसकी रचना संभवत: पहली शताब्दी ई० में हुई थी। उसमें भी गया और श्राद्ध का संबंध बताया गया है। *वसिष्ठ-*

धर्मसूत्र 11.42: नंदन्ति पितरस्तस्य सुवृष्टैरिव कर्षकाः। यद्गयास्थो ददात्यन्नं पितरस्तेन पुत्रिण इति।।

3. *निरुक्त* के अनुसार, *ऋग्वेद* 1.22.17 में वर्णित विष्णु के त्रिविक्रम के बारे में और्णवाभ ने ऐसा अनुवाद किया था कि समारोहण, विष्णुपद और गयशिरस् नामक तीन स्थानों पर विष्णु ने अपना पैर रखा। बी० एम० बरुआ और पी० वी० काणे मानते हैं कि गया में ही वे तीन स्थान हैं (Barua 1931: 40–41; Kane 1973 (1953): 645–647)। मगर *निरुक्त* के टीकाकारों ने इन तीन स्थानों और गया के संबंध कुछ नहीं बताया है । जैसे दुर्गसिंह की टीका में विष्णु के कदमों को सूर्य की परिक्रमा के रूप में समझा जाता है (Jacques 1980: 56)। इस विषय की और जानकारी के लिए Mushiga 2021 को देखें।
4. विष्णुपद मंदिर की लोकप्रियता गयावालों (गया के पंडा लोग) के प्रचार से भी हुई होगी। आज विष्णुपद मंदिर का गयावालों की एक समिति द्वारा प्रबंध किया जाता है और मुख्य पूजा-प्रार्थना माधव संप्रदाय के उत्तरादिमठ के आचार्य द्वारा की जाती है। उत्तरादिमठ के मठाधीश को सभी गयावाले अपना गुरु मानते हैं। मेरे फ़ील्डवर्क (जुलाई 2014 - अप्रैल 2016) के अनुसार गदाधर मंदिर का धामिन नामक एक अन्य समुदाय आधा अधिकार मानता है और गयावाल का दुबे परिवार आधा अधिकार मानता है। यह ज्ञात नहीं है कि इस विभाजन का कब आरंभ हुआ था।
5. 15वीं शताब्दी के अंत में उत्तर बिहार के मिथिला क्षेत्र में वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित *तीर्थचिंतामणि*, *वायु-पुराण* से ही *गयामाहात्म्य* के श्लोक उद्धृत किए।
6. *गरुड़-पुराण* और *अग्नि-पुराण* में गया के वर्णन इस तरह शुरू होते हैं। श्रीगणेशाय नमः। अथ गयामाहात्म्यं प्रारभ्यते। ब्रह्मोवाच। ... (*गरुड़-पुराण* 1.82.1); अथ गयामाहात्म्यम् । अग्निरुवाच। गयामाहात्म्यमाख्यास्ये गयातीरथोत्तमोत्तमः। (*अग्नि-पुराण* 114.1) *नारदीय-पुराण* का गया का वर्णन इस तरह से समाप्त होता है। इति श्रीबृहन्नारदीयपुराणोत्तरभागे मोहिनीवसुसंवादे गयामाहात्म्यं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः।। (*नारदीय-पुराण* 2.44)
7. तत्र यद्यपि ब्रह्म-रुद्र-कश्यपपदानामान्यतममेवारम्भसमास्योर्विहितं तथापि रुद्रपदे आरम्भः – फल्गुतीर्थे चतुर्थेऽह्नि स्नात्वा देवादितर्पणम्। कृत्वा श्राद्धं गयाशीर्षे कर्याद्रुद्रपदादिह।। इति गारुड़ात्। तथाचादौ रुद्रपदसमीपं गत्वा ॐ अद्यापुनरावृत्तिकामो रुद्रपदस्पर्शनमहं करिष्ये। इति संकल्प्य स्पृष्ट्वा श्राद्धमारभ्य तद्द्रव्याणि प्रोक्ष्य ॐ आद्यात्मसहित कलशतशिवपुरनयनकामो रुद्रपदे श्राद्धमहं करिष्ये इति संकल्प्य द्वादशदैवतं नवदैवतं षड्दैवतं वा श्राद्धं कुर्यात्। ततो विष्णुपदसमीपं गत्वा ... (*तीर्थचिंतामणि* p. 319)
8. *गरुड़-पुराण* में गयासुर की छोटी कथा समाहित है, पर यह *गयामाहात्म्य* में मिली कथा से अलग है। *गरुड़-पुराण* के अध्याय 1.86 की शुरुआत में यह लिखा है कि एक पर्वत (प्रेतशिला) को मुण्डपृष्ठ कहा जाता है और इसमें सभी देवता शामिल हैं क्योंकि यह गयासुर के मुंडा सिर के शीर्ष पर स्थित है (*गरुड़-पुराण* 1.86.4cd–5ab)। परन्तु धर्मव्रत के शिला बनने की कोई कहानी नहीं दी गई है, न ही वहाँ पर आए देवताओं के पदों की कहानी है।
9. *गयामाहात्म्य* 3.52: गयासुरस्य शिरसि भविष्यति यदा स्थिरा। तदा पारादिरूपेण स्थास्यामस्त्वयि सुस्थिराः। वरं शिलायै दत्त्वैवं तत्रैवान्तर्द्दधुः सुराः।।

संदर्भ सूची

अग्नि-पुराण. Ed. आर. एन. शर्मा. दिल्ली: नाग पब्लिशर्स, 1985.

गरुड़-पुराण. Ed. आर. एन. शर्मा. दिल्ली: नाग पब्लिशर्स, 1984.

गयामाहात्म्य . Jacques 1962 देखें

नारदीय-पुराण. Ed. सी. शास्त्री. दिल्ली: नाग पब्लिशर्स, 1984.

तीर्थचिंतामणि. Ed. कमलकृष्ण स्मृतितीर्थ. कोलकाता: एशियाटिक सोसाइटी, 1912.

वसिष्ठ-धर्मसूत्र. Olivelle 2000 देखें

वायु-पुराण. Ed. वी. एम. चतुर्वेदी. दिल्ली: नाग पब्लिशर्स, 1983.

Barua B. M. *Gayā and Buddha-Gayā*. Calcutta: Chatterjee, 1931.

चक्रवर्ती, मथुरा मोहन. 1975. "विष्णुपद मंदिर निर्माण-संबंधी एक ऐतिहासिक पत्र." *अहिल्या स्मारिका* 5, pp. 17–18.

Hazra, R. C. 1975 (1940). *Studies in the Purāṇic Records on Hindu Rites and Customs*, second edition. Delhi: Motilal Banarasidass.

Jacques, Claude 1962. *Gayā Māhātmya — édition critique traduction francaise et introduction.* Pondichéry: Institut Francais d' Indologie.

———————— 1980. "Gayā Māhātmya -Introduction etc. (Cont.)". Translated by Giorgio Bonazzoli. *Purāṇa*, vol. 22, no. 1, pp. 33–70.

Kane, P. V. 1973 (1953). *History of Dharmaśāstra*, vol. IV, second edition. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Mushiga, T. 2021. "Origin and Development of 'the Head of Gayā'." *Journal of Indian and Buddhist Studies*, vol. 69, no. 3, pp. 991–994.

Olivelle, Patrick ed. and trans. 2000. *Dharmasūtras — The Law Codes of Āpastamba, Gautama, Baudhāyana, and Vaśiṣṭha*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Sircar, D. C. 1970. "Inscriptions of Two Brahmana Rulers of Gaya." *Epigraphia Indica*, vol. 36, pp. 81–94.

पोस्ट डॉक्टोरल रीसर्च फैलो,
क्योतो यूनिवर्सिटी,
जापान

6 सदी के उपन्यास : विचार वीथी

डॉ. दत्तात्रय मुरुमकर

21 वीं सदी के उपन्यास में सर्वाधिक वैविध्य देखने के लिए मिलता है। वह कथ्य, भाषा, शिल्प, विचारधारात्मक आदि कई स्तरों पर पाया जाता है। यह वही दौर है जिनमें कई विमर्श उदित एवं विकसित हुए हैं। एक तरह से लेखन में लोकतांत्रिक भागीदारी का पूर्ण रूप इस सदी में उपलब्ध है। हर वर्ग, वर्ण, प्राय: औपचारिक सृजन में योगदान दे चुका है। स्त्री, दलित, आदिवासी, किन्नर, बारबालाएँ, वेश्याएँ, विकलांग, किसान, अल्पसंख्यक, साम्प्रदायिकता, कश्मीरी समस्या, राजनीति, वृद्ध (विमर्श) आदि। यह वही परिदृश्य है जिसमें भूमंडलीकरण, उदारीकरण और बाजारवाद कहा जाता है। वैश्विक चिंतन एवं संस्कृति ने भी हिंदी उपन्यासों को प्रभावित किया। स्त्री-पुरुष संबंधों के सामाजिक ताने–बाने से लेकर परिवर्तित होने वाले जलवायु तक को उपन्यास का विषय बनाया गया है। यह दौर उपभोक्तावादी युग का दौर है इसलिए नैतिक–सांस्कृतिक सामाजिक मूल्यों के क्षरण की चिंता को भी व्यक्त किया गया है। उत्तरआधुनिकतावाद का प्रभाव भी हिंदी के उपन्यासों पर पड़ा है ।

उत्तर–आधुनिक विचारकों ने तीन बातों का आग्रही प्रतिपादन किया– इतिहास के अंत की घोषणा की अर्थात अतीत अब निरर्थक हो चुका है (रह गईं दिशाएँ इस पार) उपभोक्तावाद की मनोवैज्ञानिक धारणा विकसित हुई और 'यूज एंड थ्रो' की संस्कृति का विकास हुआ। तीसरी महत्वपूर्ण बात नैतिक मूल्यों का भी अंत हो चुका है। एक तरह से हम सभी (स्वैराचारी) उन्मुक्त हो गए हैं जिससे हमारा भविष्य कैसा होगा इसकी चिंता करने की जरुरत अब नहीं है। उसके प्रति हमारी कोई जवाबदेही नहीं है। उससे हम पूर्णत: मुक्त है।

इस काल में औपन्यासिक लेखन द्वारा इतिहास के पुनर्लेखन को नई दिशा भी मिली है। (कितने पाकिस्तान, आखिरी कलाम, हमारा शहर उस बरस, कलिकथा वाया बाई पास, एक ब्रेक के बाद आदि।)

आदिवासी संस्कृति एवं चेतना को 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', जंगल जहाँ शुरू होता है', 'धुनी तपे तीर' जैसे उपन्यासों द्वारा विलुप्त होती आदिवासी संस्कृति, जाति के प्रति चिंता तो है ही किन्तु भूमंडलीकरण एवं औद्योगिकीकरण ने उनके साथ उनके परिवेश को भी कैसे तहस–नहस किया उन्हें विस्थापित किया इतना ही नहीं इसी कड़ी में हमें पर्यावरण का नाश हम कैसे कर रहे हैं, यह भी बताया गया है। भेल, सेल जैसी दैत्याकार कम्पनियाँ, अजस्त्र औजारों, यंत्रों से जल, जंगल की सम्पत्ति का दोहन कर रहे है यह भी बताया है।

"ताकत और पैसों के पीछे पागल लोगों की कोई अलग जाति नहीं होती। वे सब एक ही जाति के होते हैं। वे अनादि काल से अपने को बेचते आए हैं और हमेशा बेचते रहेंगें।"[1] (कलिकथा ...पृ.क्र. 24)

देश में घटित हुए कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं को उपन्यासों में पिरोया गया है। जैसे बाबरी मस्जिद विध्वंस, गुजरात कांड, मंडल कमीशन को लागू करना, 1984 के सिख दंगें आदि।[2] (कलिकथा वाया बायपास के 'द ग्रेट कैलकटा, किलिंग प्रकरण, हमारा शहर उस बरस, नागफनी के जंगल में, त्रिशूल, आखिरी कलाम, अगनपाथर आदि।)

कहीं इतिहास का 'अंत' जैसी भ्रामक धारणाओं के पीछे सुविधाभोगी जीवनशैली का दबाव तो नहीं? 'ऐतिहासिकता' के नाम पर जिस तरह इतिहास का भद्दा इस्तेमाल किया जा रहा है, वह जीवंत इतिहास का वस्तुकरण करने की समारोह धर्मी कोशिशें ही तो हैं लेकिन इन पर व्यंग्य करने से चुकती नहीं। वह इतिहास को भूलने के लिए किशोर बाबू के परिवार द्वारा बनाई गई सूची पाठकों के समक्ष रखती है-

1) पुरानी बातें भूलना,
2) नए तथ्य गढ़ना,
3) कई तरह के जुमलों को ईजाद करना,
4) पुरखों के शानदार अचकनधारी गिल्ट –फ्रेम वाले पोर्ट्रेट टांगना, इतिहास प्रसिद्ध लोगों और घटनाओं से उन्हें जोड़ना तथा
5) पुराना फर्नीचर, पुराने गहने, पुरानी मूर्तियाँ खरीदना।

वर्तमान पर काबिज और इतिहास में दखल देती उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव को यहाँ नजर अंदाज नहीं किया जा सकता\उपभोक्तावादी संस्कृति ने जीवन के लक्ष्य और दिशा को ही बदल दिया है।[3]

ब्रांड संस्कृति को भूख जैसी आधारभूत जरुरत के समकक्ष ला खड़ा किया है, 'लोन', 'फाइनांस' जैसी सुविधाएँ देकर भविष्य को तत्कालीनता के हाथों बंधक बना दिया गया है।[4]

क्योंकि 'डेटिंग' के लिए लडकियाँ लड़के की 'इंसानियत' नहीं देखती, उसकी बड़ी गाड़ी देखती है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने प्रेम को आत्म–विस्तार एवं परिष्कार का पर्याय न देकर 'फ्लर्ट' के चरित्र से दिया है।

'कलिकथा' का किशोर बाबू 'एक ब्रेक के बाद' का के. वी. शंकर अय्यर, भट्ट, गुरुचरण, रंगनाथ के जरिए खोखली होती दुनिया का, व्यक्ति, समाज का अंत, उत्तर-आधुनिक, उपभोक्तावादी संस्कृति में अनिवार्य होता जा रहा है। कार्पोरेट या कहें तीसरी दुनिया के लोग असमय में 'डेड एंड' पर पहुँच रहे हैं। यह वक्त लोगों के सपनें देखने एवं उसी में जीने का सपना है। रुपए के कल्पवृक्ष के बल पर वे सबकुछ हासिल करना चाहते है। बिसनेसमैन के पास बड़े से बड़े होने जाने का ग्लोबल सपना है, दलाल का दूसरों की मेहनत में हिस्सा पाते रहने का सपना है, नेता का स्विस बैंक में अकाउंट खोलने का सपना है, अफसर का घुस की रकम से सपरिवार शॉपिंग मॉल में खर्च करने का सपना है। गाँवों के पास सपना है शहर बनने का। शहरों के पास महानगरों का, महानगरों के पास मेगासिटीज बनने का।... "बदहवास भीड़ के खौफनाक सपने। एक प्रकार की होड़ इन सबमें है। अंधी होड़, अहं की होड़ और कुछ नहीं।"[5]

इस बीच आधुनिक, उत्तर–आधुनिक वैचारिक सामाजिक परिवेश में भारत की प्राचीन गोबर और गौमूत्र की, आयुर्वेद और यौनिकता को बचाने की नपुंसक किन्तु अपना वंश बढ़ाने के लिए जंगली रुख अपनाने की संस्कृति भी विकसित हो रही है। प्राचीन काल में पुत्र–पुत्री न होने पर राजा को खुले रूप में अपनी पत्नी अर्थात रानी को एक रात भर के लिए धार्मिक विधि के जरिए किसी गैर मर्द के पास भेजकर या यज्ञ में सबके सामने सम्भोग की खुली छुट देने की परम्परा रही थी। इधर आधुनिकता के नैतिक मूल्यों ने उसे ख़त्म कर दिया। उसकी जगह वैज्ञानिक खोजों ने स्पर्म डोनर, टेस्ट ट्यूब बेबी, क्लोन, सामाजिक रूप में लिव-इन आदि के जरिए पुनः विकसित किया है। यह समाज-वैज्ञानिक-मेडिकल क्रांति का दौर रिश्तों को कटघरों में खड़ा कर रहा है। 'रह गई दिशाएँ इस पर' जैसे उपन्यासों में इसी का संकेत आया है।[6]

उपन्यास साहित्य में शोधपरकता की दृष्टिकोण से मानवीय त्रासदी, शोषण, अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न आदि के विभिन्न पहलुओं को चिन्हित करने की कोशिश की गई है। जिनमें मैत्रेयी पुष्पा, संजीव, रणेंद्र, मधु कांकरियाँ जैसे

रचनाकारों की रचनाओं में आदिवासी जीवन का यथार्थ मौजूद है। पुलिस के अत्याचार का शिकार, एन. जी. ओ. की संस्कृति, आदिवासियों का चोरी–डकैती, हत्या, लूटपाट आदि में लिप्त होना उनकी विवशता को ही व्यक्त करता है। एक तरह से 'अल्मा–कबूतरी'से 'गायब होता देश' तक अपराधी अगर कोई है तो आदिवासी का कुल जमा जामा पहनाकर देखने का प्रशासनिक रवैया और उसकी पोल खोलता है, 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' यह महापंडित राहुल संकृत्यायन का सन्देश देने वाला 'जंगल जहाँ शुरू होता है' का नायक डी. एस. पी. कुमार है।[7] "सिर्फ संविधान या कानून बना देने से ही मनोवांछित फल मिल सकता तो घुमंतू जनजातियों का उत्पीड़न कब का समाप्त हो गया होता। सत्ता हथियाकर अपने लिए 'सम्मान जनक' स्थान और 'सुविधा जनक' राह बनाना मंडल के रूप में उभरी दलित राजनीति का मुख्य ध्येय रहा है।"[8] (स्त्री लेखन : रचना और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल, पृ. 260)

बहुत पहले रांगेय राघव ने करनटों के जीवन पर 'कब तक पुकारूँ' में दो समस्याओं का शिद्दत से जिक्र किया था, "एक और सामंती व्यवस्था और उसका उत्पीड़न दहाड़ रहा है, दूसरी ओर करनटों का बुभुक्षिक और उपेक्षित जीवन कराह रहा है, जिनकी स्त्रियाँ मानवी न होकर 'योनी' मात्र रह गयी है, जो ठाकुरों, ब्राह्मणों एवं पुलिस के सिपाहियों–सब को वासना की चासनी देकर तृप्त करती है और स्वयं अतृप्त रहती है।"[9] राघव ने इस उपन्यास की स्त्रियों को यौन संबंधों के मामले में खासकर के प्यारी और कजरी को 'सभ्यता के संसर्गजन्य दोषों से मुक्त रखा है।" अपना पेट भरने के लिए किसी से भी यौन–सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं हिचकती.....जिसे हम अनैतिक कहते हैं उसे ये स्वभावजन्य प्राकृतिक गुण मानती है। प्यारी सुखराम की पत्नी होकर भी कंजरों के यहाँ पड़ी रहती है, शराब पीती है। निरोती ब्राह्मण से एक भेली गुड पाने की आशा से ही मांसल संबंध जोड़ लेती है. इक्क्न्नी- दुक्क्न्नी लेकर ठाकुरों की प्यास बुझती है और अंत में इनसे बदला लेने के लिए रुस्तुम खां की रखैल बन जाती है। इन नारियों को लेखक ने सभ्यता के संसर्गजन्य दोषों से मुक्त रखा है।"[10] अनैतिकता के लिए यह तन महत्वपूर्ण नहीं मन महत्वपूर्ण मानती है।

जमींदार के डर से सोना अपनी बेटी प्यारी को दरोगा के पास भेजती है और कहती है कि– "मरे की तबियत आ गई है... यदि नहीं जाओगी तो वह कोड़े मार–मार तेरी और तेरे बाय की चमड़ी उधेड़ देगा।[11] चमड़ी बचाने के लिए प्यारी को दरोगा के साथ सोना ही पड़ेगा। चोरी का इल्जाम लगाकर नटों को बुरी तरह पीटना और थाने में बंद कर देना पुलिस का जितना सहज व्यव्हार था और उसे छुड़ाने के लिए उतना ही उनकी स्त्रियों का समर्पण यथार्थवादी था। पुलिस के इस अत्याचार और अनाचार से पीड़ित होकर नट सचमुच चोरी करने और उनकी औरतें शरीर का सौदा करके छुड़ा लेंती।[12] 'अल्मा कबूतरी' में अल्मा का चरित्र ऐसा ही है। वह न कबूतरी है न कब्ज़ा (सभ्य) "बार–बार बलात्कृत होकर देह की शुचिता खो देने के बाद गंवाने के लिए अब उसके पास बचा ही क्या है?"[13]

शोधपरक उपन्यास की एक और कड़ी है 'आखिरी सलाम' मधु कांकरिया। देश भर में कितनी वैश्याएँ है इसके आंकड़ों के साथ उसकी समस्याओं को दिखाती है।

विमर्शमूलक साहित्य इस सदी की सबसे बड़ी उपलब्धि है। वस्तुतः यहीं से लेखन के लोकतांत्रिक स्वरूप को समझा जा सकता है। सब की लेखकीय भागीदारी के कारण हाशिए के समाज को चिंताओं को साहित्यिक रूप मिला। समाजशास्त्री जहाँ स्थितियों के प्रवाह को बद्ध जड़ रूप में छोड़ देता है वहाँ साहित्य उन्हीं को गतिशील एवं प्रवाहमान बना के छोड़ देता है। सोचने-विचारने

एवं स्वयं के अस्मिता, अस्तित्व को जानने–पहचाने की प्रक्रिया को इसी समय में देखा गया है। प्रेमचंद के साहित्य में हर दबे–कुचले वर्ग की प्रतिध्वनि समस्यामुलकता के रूप में है। तो इसी वर्ग द्वारा रचित साहित्य में स्वयं का दिशा–निर्देशन करते हुए परंपरा, इतिहास, संस्कृति के रूप में स्वयं का स्थान एवं मन देखने–पाने की भरसक कोशिशें इनके साहित्य में है।

स्त्री विमर्श में कामलिप्सा से भरी पुरुषसत्ताक भारतीय मानसिकता और उनके यौनाचरण के लिए छूट माँगती मंदिर संस्कृति से लेकर परिवार तक को बेनकाब किया है। उनके हर ढ़ोंग एवं पाखंड को पर्दानशीन किया है। ऐसी कई रचनाएँ हैं जिसमें उत्पत्त पुरुष अपनी हवस तो पूरी करता है किन्तु जब स्त्री को उत्तप्त करके बीच में ही छोड़ देता है। ऐसी स्त्री अपनी काम भावना को पूरी करने की कोशिश करें तो वह कुलटा कही जाती है जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा दांव पर ही नहीं लगती बल्कि वह धूल-मिट्टी में मिल जाति है। स्त्री–लेखन तार्किक ढंग से यौन–शोषण, उत्पीड़न, बलात्कार, बालविधवा, बाल–प्रसूति गृह, चकलाघर, ऑफिस में बनते सहमती–असहमती के समबन्ध, उससे स्त्री को मिली आत्मपीड़ा और पीड़ा का भयावह रूप लेकर चलती है।

स्त्री के केंद्र में रोहिणी अग्रवाल एक बुनियादी सवाल उठाती है कि यौन–शोषण पुरुष की मानसिक विकृति है या पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पक्षपाती ढंग द्वारा पुरुष को मिला अभयदान ? यह स्त्री को गुलाम बनाए रखने का षड्यंत्र है या जिसकी लाठी उसकी भैंस को चरितार्थ करता आदिम जीवन–सत्य?[14] ऐसे ही वैदिक कालीन, सामन्ती, ऐतिहासिक परम्परा का पुनर्मूल्यांकन और पुनर्गठन करने की मांग से तरोताजा बना रहता है विमर्शमूलक साहित्य। वह पुरुषसत्तात्मक और वर्णवर्चस्वादी दोनों व्यवस्था के लिए चुनौती बन जाता है।

वास्तविक रूप में स्त्रियों के यौन नियंत्रण द्वारा ही पुरुषसत्तात्मक और वर्णवादी विषमताओं से भरी यह व्यवस्था खड़ी की गई है। दोनों एक-दूसरे के लिए पूरक है। जिससे स्त्रीत्व और दलित्व को शोषित करते हुए सामाजिक विभाजन सदैव बनाए रखा गया। दोनों को 'जैसे थे' अवस्था में कई षड्यत्रों द्वारा रखने के प्रयास निरंतर होते रहे है। इसी के विरुद्ध विद्रोह का आगाज है यह दोंनों विमर्श। स्त्रीत्व में यौन पवित्रता का पाखंड रचा गया तो दलित्व में छुआछूत का। दोनों को अपवित्र मानकर पाप बढ़ाने वाले कहा गया। इसलिए दोनों को पीटने की नसीहत शास्त्र समेत महाकवि ने दी है। दोनों को 'गँवार' अर्थात बुद्धिहीन माना गया। कई बार मैंने देखा है कि कुछ स्त्री–लेखिकाएँ अपने को दलित–दमित नहीं मानती किन्तु दोनों की स्थिति एक जैसी ही है। दोनों को ऐतरेय ब्राह्मण (3/24/27), तैत्तरीय संहिता (1/3/10/58), मनुस्मृति, 'आपस्तंब धर्मसूत्र' के अनुसार उपनयन, संस्कार, होम-हवन, वेद अध्ययन निषिद्ध है। कुलवधू एवं गणिका दोनों रूपों में स्त्री का मात्र एक ही लक्ष्य है पुरुष की भोग पुष्टि करना।"[15] (2/7/15/17) तसलीमा नसरीन, औरत के हक़ में, पृ-22-24, अग्रवाल पृ 302) और दलित का उनके सिर्फ और सिर्फ सेवादार बना रहना। भोग की दृष्टि से किसी भी सवर्ण को कोई भी स्त्री मनोवांछित है। फिर वह कुलीन वर्ण की हो या अवर्ण की। कुलीन वर्ण की स्त्री विवाह संस्था के दायरे में भोगी जाती है तो अवर्ण की स्त्री मंदिर संस्कृति की कोख से जनती देवदासी प्रथा में। कुलीन स्त्री से जब उसका मन नहीं भरा तो घर के बाहर किसी और स्त्री से यौन तृप्ति करने के लिए उन्होंने देवदासी व्यवस्था खड़ी की है। इसके अलावा खेत–खलियान घर–दुकान में काम करनेवाली दलित स्त्रियों का यौन–शोषण कैसे होता रहा है यह प्रेमचंद की (घासवाली) समेत कई कहानियों में इसका चित्रण पाया जाता

है। आंचलिक कहानियों–उपन्यासों को भी हम इसी दृष्टि से देख सकते हैं। 'कब तक पुकारूँ' का उल्लेख मैंने किया है।

अवर्ण स्त्रियों के साथ लम्बे समय तक सवर्ण पुरुषों द्वारा रखे जाने वाले यौन संबंधों में अपवित्रता की भावना कहीं नहीं दिखाई देती न सवर्ण स्त्रियों द्वारा दलित पुरुषों के साथ रखे जाने वाले यौन संबंधों में दिखाई देती है। यह केवल और केवल भोगवादी दृष्टिकोण है। फिर स्त्री कुलीन वर्ण की हो या अकुलीन वर्ण की। यह पौराणिक, ऐतिहासिक तथ्य है कि यौन संबंधों में स्त्री की जाति, कुल महत्वपूर्ण नहीं है वहाँ केवल सम्बन्ध महत्वपूर्ण है। ऋषि पराशर और सत्यवती की कथा हो या गौतम अहल्या की कथा हो।

ऐसे में प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता' हो या मधु कांकरिया का 'सेज पर संस्कृत' या दलित आत्मकथाएँ यह कट्टर पवित्रता के मिथ को तोड़ती है। यौन शोषण के कई रूप विभिन्न उपन्यासों में पाए जाते हैं। यह घर से ही आरम्भ होता है। "आठ साल की उम्र में मेरा जीवन नष्ट किया उस आदमी ने.....घर में रहनेवाला सांप। मैंने शादी कर ली तो सांप को कौन पालेगा? और उसने मुझे उसने विषकन्या बना दिया रूबी दी। मैं क्या किसी के लायक रह गई?"[16] "माँ यहाँ एक आदमी है। एक घर का सबसे छोटा बेटा.....वह मुझे रात भर सोने नहीं देता\मैं यहाँ नहीं रहूँगी। गाँव भाग जाऊँगी। शहर के लोग कैसे हैं। रात में पेट पर हाथ धरते हैं, छाती नोचते–बकोटते हैं और कच्छी.....[17] अथवा "अथवा मुझे नफरत है इस पुरुष जाति से\नफरत है उससे जो मासूम, छोटी, नादान, लड़की को भी नहीं छोड़ता....मैं औरत होना नहीं चाहती\मैं कभी किसी से प्रेम नहीं करुंगी। कभी शादी नहीं करुँगी। सेक्स से घृणा है मुझे, बेहद घृणा। मैं एक ठंडी औरत हूँ, ठंडी रहूँगी।"[18]

'शेष कादंबरी' की मायाबोस का यौन शोषण उसका अध्यापक पिता करता है, 'छिन्नमस्ता' की प्रिया का उसका ही भाई और 'बाबुल तेरे देश में' की चंद्रकला अपने ही ससुर का शिकार बन जाती है। पुरुषी कामुकता का यह भय चारों दिशाओं में फैला है। अपौरुषेय और पौरुषेय समाज और संस्कृति में शोषण और शिकार के नए मार्ग खोजे जाते रहे है । इसलिए इक्कीसवीं सदी में हम पिछली सारी सदियाँ जी लेते है। संज्ञाएँ और पद बदलते रहते है इसी की ऐवज में नयी अवधारणाओं का संजाल खड़ा होता है। हासिल कुछ नहीं होता।

इसलिए प्रतिरोध की भावना विमर्शों के केंद्र में है। उसकी सशक्त अभिव्यक्ति स्त्री–दलित विमर्श में सर्वाधिक है।

संदर्भ :

1.कलिकथा वाया बायपास, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,1998, पृ.24
2. वही. पृ.
3. वही, पृ.111
4.वही, पृ.,119
5. एक ब्रेक के बाद, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृ. 214
6. रह गई दिशाएँ इस पार राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2018
7. जंगल जहाँ शुरू होता है, संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 2000,
8. स्त्री लेखन स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ.260
9. डॉ. रांगेय राघव और उनके उपन्यास, लालसाहब सिंह, अनुपमा प्रकाशन, बम्बई, 1972, पृ. 107
10. वही, पृ.39
11. कब तक पुकारूँ, रांगेय राघव, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली,1957, वही, पृ.39
12. डॉ. रांगेय राघव और उनके उपन्यास, लालसाहब सिंह, पृ. 107

13. अल्मा कबूतरी, मैत्री पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ.259
14. स्त्री लेखन स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. 278
15. वही, पृ.302
16. शेष कादंबरी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्2016, पृ.66
17. कस्तूरी कुंडल बसै, मैत्री पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ. 51-54
18. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिंदी विभाग,
मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई,
महाराष्ट्र

7 हरिवंशराय बच्चन : एकांत निशा का आकुल संगीत

डॉ. ऋषिकेश मिश्र

मनुष्य मनोविकारों का पुतला है। जब ये मनोविकार उद्दीप्त होते हैं तब सर्जक-चरित्र, विशिष्ट सृजन का निर्माण करता है। निस्संदेह सुख-दु:ख, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, जय पराजय आदि की सत्ता अस्थायी है, किंतु जब स्थितियाँ विपरीत होती हैं तो धैर्यवानों का धैर्य भी ज़वाब दे जाता है। कुछ की स्थिति 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' जैसी होती है, अत: वे 'स्थिरबुद्धि' या 'स्थितिप्रज्ञ' की श्रेणी में आ जाते हैं। बच्चन का कवि संसारी है। वह मानवीय स्थितियों से जुड़ा है, जिसमें हम कामायनी के मनु की भाँति स्थिति-परिवर्तन की प्रक्रिया में 'चिंता से आनंद' तक की यात्रा को सहज अनुभूत कर सकते हैं। सर्जना कई रूपों में प्रस्फुटित होती है। आवश्यक नहीं कि वह नियोजनबद्ध और लोकमंगलकारी (सुरसरि सम सब कहँ हित होई) ही हो। निजी भावानुभूतियों से संपृक्त रचना भी मानवीय सजातीयता के कारण पाठक और श्रोता से अनायास ही जुड़ जाती है। फलत: कविता और पाठक के बीच एक भोज्य-भोजक संबंध स्थापित हो जाता है। तभी पाठक, सर्जक और काव्य-कला में निहित भावों को आत्मसात् कर पाने में समर्थ हो पाता है। और कविता का सत्त्व पाठक का अपना सत्त्व बन जाता है।

कवि बच्चन जी का जीवन बड़ा ही उठापटक से भरा रहा है। वे गांधी के सत्याग्रह आंदोलन में विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़ चर्खा कातने, खद्दर बेचने, नमक बनाने और व्याख्यानादि में जुट गए थे। भावनाएँ मुखरित हुईं तो 'रुबाइयत उमर खैयाम' का अनुवाद कर डाला। रंगीनी दुनिया ने इतना मोहा कि अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उन्होंने प्रतीकों के रूप में हाला, प्याला, मधुशाला और मधुबाला को चुना। यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। जब जीवन का पहिया घूमा तब तक भावनाओं ने तीव्रतम स्थिति पा ली थी और मधुशाला का नशा उतर चुका था :

गिर-गिर टूटे घट-प्याले,
बुझ दीप गए सब क्षण में;
सब चले किए सिर नीचे
ले अरमानों की झोली।
गूँजी मदिरालय भर में
लो चलो-चलो की बोली।[1]

इसके बाद तो 'हलाहल', 'मरघट' और 'अतीत का गीत' के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करनी चाही। जब स्वयं बीमार पड़े तो 'इस पार और उस पार' (इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा?) की चिंता भी व्यापी। किंतु एकाकीपन का दारुण दुख तो तब मिला जब पत्नी श्यामा सारे प्रयत्नों के उपरांत भी उस पार चली गई। श्यामा से अचानक विछोह (1936) ने विरहजनित कव्य की पीठिका तैयार की। परिणामत: कवि अपनी अनुभूति, संवेदना तथा भोगे-देखे यथार्थ को ही शब्द प्रदान करने लगता है। दुख की इस बेला में मधु का निर्झर तो सूख चुका था, किंतु बच्चन का कवि मरा नहीं था। वे फिर से लेखनी उठाते हैं, किंतु उससे जो निर्झरिणी

फूटती है वह निश्चय ही उसकी पीठिका विप्रलंभ की है।

आचार्य भोजराज के अनुसार, 'जहाँ रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त करे, लेकिन अभीष्ट को न पा सके, वहाँ विप्रलंभ श्रृंगार कहा जाता है।'[2] वहीं आचार्य धनंजय शृंगार को आयोग, विप्रयोग और संयोग इन तीन रूपों में देखते हैं।[3] इनमें आयोग और विप्रयोग विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत आते हैं, जिसमें 'आयोग' का अर्थ है 'नहीं मिल पाना' और विप्रयोग का अर्थ है 'मिलकर अलग हो जाना'। बच्चन जी का विरह 'विप्रयोग विप्रलंभ' है। मधु-मस्ती का गायक श्यामा से वियोग के उपरांत विरह, विषाद और उन्माद के गीत गाने लगता है। पर ध्यान देने की बात यह है कि कवि पूरी तरह विकारग्रस्त नहीं है, यदि ऐसा होता तो नीड़ और गेह का पुन: निर्माण नहीं हो पाता। कई बार ऐसा लगता है कि जैसे इस अयाचित विपत्ति का सामना करने के लिए कवि पूरी तरह से तैयार बैठा रहा हो :

संसृति के जीवन में, सुभगे, ऐसी भी घड़ियाँ आयेंगी,
जब दिनकर की तम हर किरणें तम के अंदर छिप जायेंगी,
जब निज प्रियतम का शव, रजनी तम की चादर से ढँक देगी,
तब रवि-शशि-पोषित यह पृथ्वी कितने दिन खैर मनाएगी;
जब इस लंबे-चौड़े जग का अस्तित्व न रहने पायेगा,
तब हम दोनों का नन्हाँ-सा संसार न जाने क्या होगा।[4]

और जब यह स्थिति आती है तो बच्चन जी विरह का एक भी कतरा अपने पास नहीं रखते बल्कि अपने द्रवित हृदय का समग्र उलीच डालते हैं। विरह और पीड़ा की ये स्थितियाँ किसी भी मनुष्य को दो दिशाओं में प्रेरित करती हैं- एक उत्थान तो दूसरी पतन की ओर। बच्चन का विरह हिंदी साहित्य को और श्री संपन्न करता है। निस्संदेह काव्य की व्युत्पत्ति तो मार्मिक क्षणों में ही होती है। महर्षि वाल्मीकि ने मैथुनरत क्रौंचयुगल में से एक की हत्या देखी थी और उनकी करुणाविगलित वाणी से कविता फूट पड़ी थी :

मां निषाद प्रतिष्ठां त्वं अगम: शाश्वती: क्षमा।
यत्क्रौंच मिथुनादेकम् अवधी: काम मोहितम्॥[5]

तत्पश्चात् रामायण के रूप में एक ऐसी कालजयी महाकाव्यात्मक कृति प्रकाश में आयी, जिसने मानव समाज को बहुविधि संबल प्रदान किया। वस्तुत: विरह की अवस्था ही काव्य और कला को चरम परिणति प्रदान करती है। तभी तो सुमित्रानंदन पंत आदिकाव्य के प्रस्फुटन पर अपनी मुहर लगाते हुए कहते हैं :

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।

कवि बच्चन की तीन प्रमुख काव्य-रचनाएँ निशा निमंत्रण (1937-1938), एकांत संगीत (1938-1939) और आकुल अंतर (1940-1942) एक ही क्रम और पाट की रचनाएँ हैं, जिनका स्वर कमोबेश एक ही है। ये स्वर परिस्थितिवशात् फूटे हैं, जिसमें व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों तरह के स्वर शामिल हैं। इन रचनाओं में कवि बच्चन का एकांत आकुल-अंतर छलक पड़ा है। जहाँ हम एक सद्गृहस्थ की सहजानुभूतियों और उसके भीतर चल रहे निरंतर आलोड़न-विलोड़न को महसूस कर सकते हैं। उपर्युक्त तीनों रचनाएँ पहले बिना किसी भूमिका के प्रकाशित हुई थीं, किंतु बाद के संस्करणों में कवि द्वारा लिखित भूमिका पाठकों और आलोचकों के तमाम पूर्वाग्रहों को खारिज करती हैं। निस्संदेह जब कवि का जीवन बदला तब उसकी कविता की शैली भी बदल गयी। किंतु कवि बच्चन नहीं चाहते थे कि उनकी रचनाओं को केवल रूढ़ अर्थ में लिया जाय। उनका संबोधन तो पाठक के लिए है, जिससे वे अपनी व्यथा-कथा कहना चाहते हैं। किंतु यह वेदना सार्वभौम है। उन्हीं के शब्दों में ***'कविता की प्रजा दो प्रकार की***

होती है। एक वह, जो कविता को बौद्धिक संवेदन देती है, उससे तटस्थ रहती है, उसे कौतूहल की दृष्टि से देखती है। दूसरी वह, जो उसे हार्दिक सह+अनुभूति देती है, उसकी भावधारा में बहती है, उसे अपने प्राणों में बसा लेती है।[6] तात्पर्य यह है कि कवि बच्चन जी की कविता में सहानुभूति का एक सहज प्राकट्य है। यही कारण है कि बच्चन जी अपनी कविता के प्रति एक व्यापक दृष्टि की अपेक्षा रखते हैं।

'निशा निमंत्रण' बच्चन के 'त्रिपथा' या 'त्रिधारा' की पहली कड़ी और 100 गीतों का ऐसा अनूठा संकलन है, जिसमें संध्या से लेकर विरह-वेदना से पूरित भयावह निशा की उषा होने तक की अद्वितीय यात्रा है। 100 गीतों का यह संकलन स्वर्गगता श्यामा को समर्पित है। बच्चन जी 'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' और 'आकुल अंतर' के संदर्भ में 'एकांत संगीत' की भूमिका में लिखते हैं कि *'इन तीनों रचनाओं में एक सांगिक संबंध है। इन तीनों रचनाओं की इकाई जीवन के गहनांधकार में पैठने, उससे संघर्ष करने और उससे निकलने की भाव-यात्रा है।*[7] 'निशा निमंत्रण' की रचना में बच्चन जी ने एक साथी की कल्पना की थी, जिसे संबोधित करते हुए उन्होंने कई गीत लिखे। जैसे- **'...साथी, अंत दिवस का आया।' '...साथी, घर-घर आज दिवाली।' '...साथी, नया वर्ष आया है।' '...साथी, सो न कर कुछ बात।' '...आज रोती रात, साथी।'** यह बात अलग है कि 'निशा निमंत्रण' के अंत तक पहुँचते-पहुँचते वे इस साथी से विदा भी लेने लगते हैं, "जाओ, कल्पित साथी मन के!" यह 'साथी' जहाँ उनका अपना व्यक्तिगत था, तो वहीं उनका अपना पाठकवर्ग भी है, जिससे वे अपनी व्यथा-कथा कह रहे होते हैं। 'निशा निमंत्रण' में कवि ने गीतों का क्रम एक विशेष धारणा के अनुसार रखा है। इस रचना में संध्या के वातावरण से आरंभ करके प्रात:काल के वातावरण तक के गीत हैं। रात के वातावरण में गीतों का ताना-बाना बुना गया था; जहाँ अँधेरे का वातावरण, निजी अवसाद के चित्रण के लिए स्वाभाविक ही अनुकूल बन पड़ा था। कवि के अवसाद की अनुभूति इतनी तीव्र है कि वह अपने सौ गीतों में एक बार भी चाँदनी का दर्शन नहीं कर पाता। एक गीत में चाँदनी का संकेत आता भी है तो वह पिछले पहर की क्षीण और निस्तेज है। उसकी मात्रा अत्यंत न्यून है-

दे रही कितना दिलासा,
आ झरोखे से ज़रा-सा
चाँदनी पिछले पहर की पास में जो सो गई है!
रात आधी हो गई है![8]

दरअसल 'निशा निमंत्रण' तक पहुँचते-पहुँचते बच्चन का कवि पूरी तरह बदल जाता है। उसकी शैली, शब्द-योजना, रूपक, छंद आदि में बड़ा परिवर्तन आ जाता है। यह बदलाव काव्यगत परिवर्तन के कारण हुआ, जो कवि की परिस्थितियों की उपज था। जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। वस्तुत: बच्चन जी के काव्यजगत् का जो विस्तृत पाट हमें दिखाई पड़ता है, वह विप्रलंभ के पूर्व की मधुमय स्थिति, श्यामा के विरह और उससे उबरने की सामर्थ्य तलाशने का परिणाम है। जब यह तलाश पूरी हो जाती है तब कवि नीड़ का निर्माण भी करता है और उसका समवेत ताना-बाना भी बुनता है। लेकिन इस नीड़-निर्माण के पूर्व की जो स्थिति है वह बेहद कारुणिक और हृदयविदारक है; साथ ही हिंदी साहित्य में अप्रतिम। विरह की अवस्था में कवि का अंतर आकुल-व्याकुल है, अपनी प्रियतमा से मिलने के लिए अकुला रहा है। चकवा पक्षी

शापित होने के कारण रात्रि में अपने प्रियतम से भले ही न मिल पाये, पर रहता तो समीप ही है। बच्चन का कवि इस अनमिल सामीप्य को बरकरार रखना चाहता है। यही कारण है कि निशा उसे निमंत्रित करती प्रतीत होती है, जिसमें अतीत की स्मृतियाँ और रूपाकार तथा जाग्रत हो जाती हैं। उसके हृदय के तार एकांत संगीत से झंकृत होते रहते हैं। कहते हैं, चकवा पक्षी अपने प्रियचंद्र से मिलन की आस में अंगारे का भक्षण कर लेता है। तर्क यह है कि अंगारे को निगलने के उपरांत वह भस्मीभूत हो जाएगा, श्मशान की भस्म बन जाएगा। चूँकि भगवान् शिवजी अपने ललाट पर श्मशान की भस्म धारण करते है, जहाँ चंद्रमा का निवास स्थान है। अत: जिस दिन वे अपने ललाट पर भस्म धारण करेंगे उस दिन चकवा अपने प्रियतम चंद्रमा का सामीप्य पा लेगा। बच्चन का कवि भी विरह की उसी पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है :

जग के विस्तृत अंधकार में,

जीवन के शत-शत विचार में,

हमें छोड़कर चली गई, लो, दिन की मौन संगिनी छाया!

साथी, अंत दिवस का आया![9]

बच्चन जी का श्यामा से बहुत गहरा जुड़ाव था। श्यामा को उन्होंने अत्यंत भोली, नन्हीं, नादान, अनजान हँसमुख जिसने जीवन की कटुता को जाना ही नहीं, ऐसी ही 'खेल की सहेली' के रूप में देखा था। शेली का 'स्कायलार्क' पक्षी अति उँचाई पर उड़ता है और अपने पंखों से गाता है। उसकी ऊँची उड़ान और अशरीरी आनंद (अनबाडीड जॉय) की प्रतीति कर शेली लिखते हैं, 'An un-bodied joy whose race has just begun.' बच्चन जी के लिए श्यामा देवी थीं, और उन्हें वे जॉय कहते थे। दुर्भाग्यवशात् एक अमूर्त आनंद जिसका अभियान अभी-अभी प्रारंभ ही हुआ था, वह आनंद मूर्तिमान होने से पहले ही बिछड़ गयी। जॉइन नहीं हो सकी। ऐसे में उनके हृदय का विदीर्ण होना स्वाभाविक था और वह हुआ भी। इस विदीर्ण हृदय से उपजी वेदना ही विरहावस्था की पीठिका तैयार करती है। काव्य और कला को यही अवस्था चरम परिणति प्रदान करती है। 'दिन जल्दी-जल्दी ढलता है' से निशा के आगमन की व्यथा-कथा आरम्भ होती है और जैसे-जैसे निशा गहराती जाती है वैसे-वैसे अवसाद बढ़ता जाता है। दरअसल यह बच्चन के काव्यलोक का अपना वैशिष्ट्य है कि उनकी कविता किसी एक साँचे में बँधी नहीं है, बल्कि वह निरंतर ऊर्ध्वमुखी दृष्टिगत होती है। उनके निजी जीवन की अनुभूतियों और दर्द में भी एक सामान्य मनुष्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

विरही का दिन तो किसी तरह बीत जाता है किंतु रात्रि तो एकाकीपन के रूप में मूर्तरूप हो उठती है। दिन ढलने के साथ ही- जैसे-जैसे संध्या का प्रभाव बढ़ते जाता है, कवि अपने दिवस का अंत मानने लगता है। संध्या के आगमन पर कांत की प्रतीक्षा में गृहिणी दीप जला रही है और बच्चन जग के अंधकार में अकेले पड़ गये हैं :

जग के विस्तृत अंधकार में,

जीवन के शत-शत विचार में,

हमें छोड़कर चली गयी, लो, दिन की मौन संगिनी छाया!

साथी अंत दिवस का आया![10]

कवि स्वप्न, छल और जागरण के ऊहापोह में लाचारी की दशा में है। वियोग की इस चरम स्थिति में वह विरह को ही अपना मीत बना लेता है। दुख तो हमेशा का संगी है। हृदय के हरे घावों के साथ वह अपना अंत चाहता है:

मौन रहो मुख से मत बोलो,

अपना यह मधुकोष न खोलो,

भय है कहीं हृदय के मेरे घाव न भर जायें!

आओ, सो जायें, मर जायें![11]

दीपावली प्रकाशपर्व है। घर-घर प्रकाशोल्लास का उत्सव है, किंतु कवि को प्रकाश से क्या प्रयोजन, नियति ने उसके दरो-दीवार को अंधकार से स्याह बना दिया है :

फैल गई दीपों की माला,
मंदिर-मंदिर में उजियाला,
किन्तु हमारे घर का, देखो, दर काला, दीवारें काली।
साथी, घर-घर आज दिवाली।[12]

निशा की उपस्थिति ने सबको नींद के भुजपाश में ले लिया है। सारा विश्व सो रहा है, किंतु कोई है जो तारों की सभा में अपना दुखड़ा रो रहा है। कवि सच्चे वियोगी की भाँति टूटी कहानी को जोड़ना चाहता है। ऐसा लगता है, मानो वह नियति के दुष्चक्र को चुनौती दे रहा हो:

पूर्ण कर दे वह कहानी,
जो शुरू की थी वह सुनानी,
आदि जिसका हर निशा में, अंत चिर-अज्ञात।
साथी, सो न, कर कुछ बात![13]

रात्रि के आगमन पर जहाँ सारी दुनिया सो चुकी है, वहीं आधी रात में भी कवि आँखें फाड़े सुधियों के सहारे जाग रहा है। कवि को ज्ञात है कि स्थितियाँ बदलेंगी किंतु जीवन तो नहीं बदलेगा। शकील बदायुंनी का गीत याद आ रहा है- ***ये ज़िंदगी के मेले दुनिया में कम न होंगे, अफ़सोस हम न होंगे।*** विषम परिस्थितियों के बीच भी वह मरकत की प्याली ढूँढ़ता है, अपने मधुगान की याद करता है :

टूट गयी मरकत की प्याली,
लुप्त हुई मदिरा की लाली,
मेरा व्याकुल मन बहलाने वाले अब समान कहाँ हैं।
अब वे मेरे गान कहाँ हैं।[14]

कवि को पता है मेरी वाणी के मधुमय स्वर को विश्व अवश्य सुनेगा। विश्व हाथ बढ़ाकर, शीश नवाकर आदर भी करेगा, परंतु जो नेत्र सतत मेरे प्रतीक्षा में रत रहते थे, वे अब न खुलेंगे। मेरे देवत्व पर दुनिया अवश्य झुकेगी, किंतु दुर्बलता पर दुलराने वाले लोग नहीं मिलेंगे। अर्थात् बीते दिन अब लौटकर नहीं आने वाले। 'निशा-निमंत्रण' की अंतिम कविताओं में कवि आशावादी होने लगता है। जिस प्रकार उषा का आगमन मनुष्य को नवजीवन के लिए तैयार करता है उसी प्रकार कवि भी सोचता है – क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं:

अगणित उन्मादों के क्षण हैं,
अगणित अवसादों के क्षण हैं,
रजनी की सूनी घड़ियों को किन-किन से आबाद करूँ मैं!
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं।[15]

पूर्व की स्मृतियाँ बार-बार सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। ये स्मृतियाँ ही उनकी आत्मकथा 'क्या भूलूँ, क्या याद करूँ' की पाथेय बनती हैं। कवि को इस बात का आभास है कि जब मधुमय स्थितियाँ गुजर गईं तो ये दुख भी साथ नहीं देंगे। दुख का अँधियारा पाख भी अवश्य समाप्त होगा। दरअसल यह आशा ही हमारे अंतर में नवजीवन का संचार करती है :

काल छीनने दुख आता है,
जब दुख भी प्रिय हो जाता है,
नहीं चाहते जब हम दुख के बदले में लेना चिर सुख भी!
साथी, साथ न देगा दुख भी![16]

उषा की पहली किरण के साथ ही कवि नए वर्ष की अगवानी भी करता है-

वर्ष पुराना, ले, अब जाता,
कुछ प्रसन्न-सा, कुछ पछताता;
दे जी भर आशीष, बहुत ही इससे तूने दुख पाया है!
साथी, नया वर्ष आया है।[17]

सौ गीतों के संग्रह 'एकांत संगीत' को कवि ने 'अपने को' समर्पित किया है। इसके छठें संस्करण की भूमिका में कवि बच्चन यह घोषणा करते हैं कि

उनके त्रिपिटक में मात्र उनकी पीड़ा नहीं है। वे लिखते हैं : *"कुछ लोगों के द्वारा आत्मकेंद्रित घोषित किए जाने और अपने द्वारा भी अपने को एकाकी और निस्संग समझने के बावजूद यह मानता हूँ कि मैं कभी भी ऐसा आत्मकेंद्रित नहीं था जो समाज से दूर चला गया हो या ऐसा एकाकी, जिससे समाज दूर चला गया हो गया, या ऐसा एकाकी, जिससे समाज दूर चला गया हो। मैं जो बोलता था वह बहुसंख्यकों से प्रतिध्वनित होता था, मैं जो लिखता था वह बहुसंख्यक लोगों के द्वारा पढ़ा जाता था। अपने व्यक्ति और अपने कवि के बीच मैंने कभी कोई दीवार नहीं खड़ी की, फिर भी मुझे दोनों को पृथक् करके सोचना ही हो तो मुझे कहना चाहिए कि यदि मेरा व्यक्तित्व कभी एकाकी था भी तो मेरा कवि कभी ऐसा नहीं था।"*[18] कवि बच्चन का मानना था कि 'निशा-निमंत्रण' या 'एकांत-संगीत' के जिस अनोखे अवसाद को वे प्रस्तुत कर रहे थे, उसे अपनाने के लिए समाज का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण वर्ग तैयार खड़ा था। 'एकांत-संगीत' में कवि का विरही रूप अवश्य दृष्टिगत होता है, किंतु वह उसका व्यक्तिगत विरह नहीं, बल्कि वह हर उस संवेदनशील हृदय की अनुभूति है, जिसने प्रेम की पीर को अनुभव किया हो, जहाँ सयानापन नहीं चलता; बल्कि द्रवित होते हैं हृदय के उद्गार। 'एकांत-संगीत' के उद्गार 'निशा-निमंत्रण' के उपरांत प्रस्फुटित होते हैं, तो 'आकुल-अंतर' में कवि का अंतर आकुल हो उठता है। इसी आकुलता के पश्चात् ही नीड़ का निर्माण संभव हो पाता है। ज्ञान हो कि निर्मिति का संधान एक आकुल हृदय ही उसे साध सकता है। दरअसल बच्चन जी की तीनों कृतियाँ जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से जूझ को बरबस ही उरेहती हैं। किंतु कवि का गहनांधकार से निरंतर संघर्ष जारी है और वह उससे बाहर निकलने का सतत मार्ग खोज रहा है। इस संदर्भ में 'आकुल-अंतर' की ये पंक्तियाँ देखिए :

गहनांधकार में पाँव धार
युग नयन फाड़, युग कर पसार
उठ-उठ, गिर-गिर कर बार-बार
मैं खोज रहा हूँ अपना पथ, अपनी शंका का समाधान।[19]

'एकांत-संगीत' के गीतों के संदर्भ में बच्चन जी लिखते हैं, *'1938 में एम.ए. करने के बाद मैं बी.टी. करने के लिए काशी चला गया था। 'एकांत-संगीत' का पहला गीत, 'अब मत मेरा निर्माण करो' ट्रेनिंग कॉलेज, कमच्छा के बोर्डिंग हाऊस में लिखा गया था। वहाँ रहते हुए, बी.टी. की पढ़ाई करते हुए दस महीनों में मैंने 44 गीत लिखे। काशी में लिखा अंतिम गीत 'बुलबुल जा रही है आज', जिसे मैंने परीक्षा के पश्चात् ट्रेनिंग कॉलेज से विदा होने के दिन लिखा था। शेष गीत बाद को प्रायः प्रयाग में लिखे गए।*[20] 'एकांत-संगीत' अपने ढंग का अपना संकलन है, जिसके माध्यम से कवि की सृजनात्मक वृत्ति की सहज स्वाभाविक एवं क्रमिक गति को समझा जा सकता है। कवि का विषाद इस संग्रह में अपने चरमोत्कर्ष पर है। बच्चन जी के विषाद को इस गीत में समझा जा सकता है :

चाँदनी में साथ छाया!
मौन में डूबी निशा है,
मौन-डूबी हर दिशा है,
रात भर में एक ही पत्ता किसी तरु नें गिराया!

होंठ इसने भी हिलाये,
हाथ इसने भी उठाए,
आज मेरी ही व्यथा के गीत ने सुख संग पाया!
चाँदनी में साथ छाया![21]

इसमें कोई शक नहीं कि कवि का विरह और विषाद इनकी आलोच्य तीन कृतियों में देखा जा

सकता है, किंतु जीवन के विषादग्रस्त क्षण कवि के दुर्दांत जिजीविषा को छीन नहीं पाते। वह तो 'एकांत-संगीत' के प्रथम गीत में ही अपनी त्यौरियाँ चढ़ाये हुए है :

कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है;
कुछ मेरे भी वश में,
मेरा कुछ सोच-समझकर अपमान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो![22]

किंतु इन त्यौरियों का अर्थ यह नहीं है कि कवि अंधकार, उदासी और अवसाद से मुक्त हो जाता है। कवि बच्चन की कविताएँ इन संग्रहों में लैंडस्केपी रही हैं। वह ज़हर की कामना और मरने का अधिकार माँगने लगता है :

वो गई तृष्णा जगाकर,
जीवन के चेतन लक्षण के,
मुझे खुशी से दो मत जीवन, मरने का अधिकार मुझे दो!
मत मेरा संसार मुझे दो![23]

इस मृत्यु के अधिकार की माँग के पीछे कवि बच्चन आशा की किरण तलाश रहे थे। जिन आलोचकों ने उनकी तीनों रचनाओं में केवल अवसाद के स्वर सुने, उनको ध्यान में रखकर वे 'एकांत-संगीत की भूमिका में लिखते हैं: *'किन्हीं उथले पाठकों और किन्हीं छिछले समालोचकों को मैंने दयनीय ही समझा, जब मैंने पाया कि मेरे इन तीनों रचनाओं में उन्होंने केवल निराशा और अवसाद का ही स्वर सुना। सच तो यह है कि मैं सदा आशा की ही किरण खोज रहा था, पर मैं उसे किसी सैद्धांतिक, काल्पनिक अथवा नकली सतह से नहीं उठा लेना चाहता था। मैं अंधकार और निराशा की अंतिम तह तक गया और वहाँ भी जो किरण उजाला कर रही थी, वहाँ भी जिसने मेरा साथ नहीं छोड़ा था, उसी के सहारे मैं ऊपर उठा। मेरी आशा प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर निकली।*[24] दरअसल 'एकांत-संगीत' हर उस व्यक्ति का संगीत है, जो अपने आप में डूबा और स्वयं से संवाद स्थापित करने की कोशिश कर रहा है। कवि सार्वजनिक जीवन में होने के बावजूद भीतर से एकाकी है। यद्यपि वह एकाकीपन को ठीक नहीं मानता। कई बार जीवन में ऐसी घटनाएँ घटती हैं, जहाँ मनुष्य स्वयं को नितांत अकेला अनुभव करता है। वस्तुतः यह अकेलापन केवल बच्चन का अकेलापन नहीं है, यह हर उस मनुष्य का अपना निजी संघर्ष है, जहाँ से वह अपने पूर्व उल्लास को पाने के लिए स्निग्ध प्राणवायु की तलाश करता है :

भटका हुआ संसार में,
अकुशल जगत् व्यवहार में,
असफल सभी व्यापार में, कितना अकेला आज मैं!
कितना अकेला आज मैं!
खोया सभी विश्वास है,
भूला सभी उल्लास है,
कुछ खोजती हर साँस है, कितना अकेला आज मैं![25]

यद्यपि कि उसका अंतर आकुल-व्याकुल है, तथापि कवि अब सपनों की दुनिया में नहीं रहना चाहता। वेदना ने मानो उसे सत्य के निकट ला दिया है। सांसारिक छल-छद्म से अब वह परिचित है। उसे इस बात का भी भलीभाँति ज्ञान है कि मोह ही समस्त संकटों की जड़ है। इसलिए अब वह कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ना चाहता है।

'आकुल-अंतर' में कवि का अंतरतम भले ही आकुल-व्याकुल हो, किंतु उसके प्रबोध में किसी प्रकार की कमी नहीं है। अपनी आकुलता में भी बच्चन जी कवि की रचना प्रक्रिया और उसके काव्य हेतु को स्पष्ट कर देते हैं :

गान गायक का नहीं व्यापार, उसकी विकलता है;
राग वीणा की नहीं झंकार, उसकी विकलता है;

भावनाओं का मधुर आधार साँसों से विनिर्मित,
गीत कवि-उर का नहीं उपहार, उसकी विकलता है।[26]

इसमें कोई संदेह नहीं कि श्यामा के विछोह ने उन पर अनभ्र वज्रपात किया था। यद्यपि उनके दु:ख में कोई कमी नहीं थी, किंतु अपार पीड़ा में भी उनकी जागतिक समझ कभी न्यून नहीं होती। संसार की प्रवृत्ति से वे बख़ूबी वाकिफ़ थे। जो उन्हें कुछ नहीं समझते थे वही आज समझाइश का ढोंग कर रहे हैं। वहीं उनकी दुर्बलता का लाभ उठाने वालों की भी कमी नहीं है :

समझा था जिसने मुझको सब,
समझाने को वह न रही अब,
समझाते मुझको हैं मुझको कुछ न समझने वाले।
कैसे आँसू नयन सँभाले।

मन में था जीवन में आते
वे, जो दुर्बलता दुलराते,
मिले मुझे दुर्बलताओं से लाभ उठाने वाले।
कैसे आँसू नयन सँभाले।[27]

'आकुल अंतर' में कुल 71 कविताएँ हैं, जिसमें बच्चन जी द्वारा एकांत-संगीत के द्रवीभूत होने के उपरांत की आकुलता का मार्मिक निदर्शन है। इस आकुल हृदय को वही समझ सकता है, जिसने हृदय की आकुलता को अनुभूत किया हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि बच्चन का दु:ख बेहद निजी है। पर जब पाठक इनकी कविताओं को पढ़ता है तब वह दुख उसका अपना भी हो जाता है। वैसे भी रचना तब तक रचनाकार की रहती है जब तक वह शब्दबद्ध नहीं हो जाती या प्रकाशित नहीं हो जाती। प्रकाशित होते ही रचना पाठक की हो जाती है। वस्तुतः बच्चन जी के गीत मानव मन की निश्छल अभिव्यक्ति हैं। यह अभिव्यक्ति उनके भोगे हुए यथार्थ से उपजी है। 'निशा-निमंत्रण' से 'आकुल अंतर' तक पहुँचते-पहुँचते बच्चन जी का विषाद अंतर्मुखी हो जाता है। तथापि पूरी तरह से बच्चन का कवि सामाजिक स्थितियों के प्रति पूरी तरह से उदासीन नहीं है। कवि की वाणी विरह-आवेगों के बजाय संकल्पवान होने की दिशा में अग्रसर होने लगती है :

यदि न सके दे ऐसे गायन,
बहले जिनको गा मानव मन;
शब्द करे ऐसे उच्चारण,
जिनके अंदर से इस जग के शापित मानव का स्वर बोले।[28]

जीवन के यथार्थवादी चित्र 'निशा-निमंत्रण' और 'एकांत-संगीत' की अपेक्षा 'आकुल अंतर' में अधिक देखने को मिलते हैं। अब अंतर्मुखी बने रहना उसे स्वीकार नहीं है। यहाँ फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं :

और भी दुख हैं ज़माने में मोहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा

केवल अपने ही सुख-दु:ख में में लीन रहना किसी दृष्टिहीनता से कम नहीं है। यह दृष्टिहीनता हमें एकाकी बन देती है। और एकाकी होना किसी गुनाह से कम नहीं है। बच्चन का कवि अब एकाकी नहीं रहना चाहता, वह विश्व-संवेदना के साथ जुड़ना चाहता है :

तू अपने में ही हुआ लीन,
बस इसीलिए तू दृष्टिहीन,
इससे ही एकाकीमलीन-,
इससे ही जीवनक्षीण-ज्योति-;
अपने से बाहर निकल देख है खड़ा विश्व बाहें पसार।
तू एकाकी तो गुनहगार।[29]

बच्चन जी उत्तर छायावादी कवि हैं। वे मानव जीवन के कवि हैं। मानव जीवन की उथल-पुथल, उतार-चढ़ाव और जीवनसंघर्ष उनकी कविताओं में देखा जा सकता है। वे जब मधु गान कर रहे होते हैं तब भी, जब नियति के कारण निजी पीड़ा से उनका हृदय द्रवित हो रहा होता है तब भी और एक आशा और विश्वास के साथ जब नीड़ का पुनः निर्माण करने के लिए उद्यत होते हैं तब भी

उनमें मानव की सहज स्थितियों को ही देखा जा सकता है। वस्तुतः इनके गीतों में निहित विषाद इनका अपना है, जो नियति प्रदत्त है। विषाद के त्रिपिटक का कवि, मधु कवि से पूर्णतया अलग है। यहाँ कवि किसी उन्माद की अवस्था में नहीं है, अपितु दैववशात् जो विरह अथवा दुख प्राप्त हुआ है, उसे भोगने के लिए अभिशप्त है। पर वह दुनिया से अनजान नहीं है। इस तरह की विपरीत परिस्थितियाँ प्रत्येक मनुष्य के जीवन में किसी न किसी प्रकार से आती ही हैं। सामान्य मनुष्य जहाँ टूट जाता है, वहीं एक सर्जक व्यक्तित्व सर्जना में प्रवृत्त होता है और भावी पीढ़ी के लिए संबल का, मशाल का कार्य करता है। बच्चन जी का महत्त्व इसी दृष्टि से है। वे दुर्घटनाओं से टूटते नहीं हैं। वे पुनः पुनः खड़े होते हैं। निस्संदेह बच्चन जी इन तीनों कृतियों में यथार्थ की पीठिका पर खड़े हैं, जो प्रायः निजी है और नियति एवं समाज से उद्‌भूत है। एक बात ध्यातव्य है कि आकुल अंतर तक पहुँचकर उनकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। उनका कवि अस्तित्वहीन जीवन में जीवन-सूत्र तलाशने की कोशिश करता है। वह अब ठहरना नहीं चाहता :

जबकि ध्येय बन चुका,
जबकि उठ चरण चुका,
स्वर्ग भी समीप देख-मत ठहर, मत ठहर, मत ठहर!
गिरि शिखर, गिरि शिखर, गिरि शिखर!

संग छोड़ सब चले,
एक तू रहा भले,
किंतु शून्य पंथ देख-मत सिहर, मत सिहर, मत सिहर!
गिरि शिखर, गिरि शिखर, गिरि शिखर![30]

इस तरह हम देखते हैं कि तमाम संघर्षों के बावजूद बच्चन का कवि कभी हार नहीं मानता। अपने जीवन की पीड़ा उलीचकर वह विरेचित हो उठता है। जीवन समर में फिर-फिर उठ खड़ा होता है। वह कभी निराश और हताश स्थिति में नहीं दिखाई देता। न तो थकता है और न ही थमता है। अपने अग्नि-पथ का निर्माण आप ही करता है। वस्तुतः 'चरैवेति-चरैवेति' का सिद्धांत बच्चन जी जीवन-यात्रा का मूलमंत्र है। और इस राह में उन्होंने कभी मुड़ना नहीं सीखा :

वृक्ष हों भले खड़े,
हों घने, हों बड़े,
एक पत्रछाँह भी माँग मत-, माँग मत, माँग मत!
अग्नि पथ!अग्नि पथ !अग्नि पथ !

तू न थकेगा कभी!
तू न थमेगा कभी!

तू न मुड़ेगा कभी!कर शपथ !कर शपथ !कर शपथ- !
अग्नि पथ!अग्नि पथ !अग्नि पथ ![31]

बच्चन जी की कविता का संसार योजनाबद्ध तरीके से नहीं रचा गया है, अपितु यथावसर वहाँ उसकी भावानुभूतियों का ही मार्मिक संयोजन है। कवि ने केवल शब्दों का महल नहीं खड़ा किया है, बल्कि उसके गीतों में अनुभूतियों और संवेदनाओं का ईंट-गारा लगा हुआ है। इस महल में वही पाठक प्रवेश कर पाता है जो मानव जीवन के विकासवान रूप से परिचित है। बच्चन जी ने वस्तुतः अपनी निजी संवेदनाओं को ही मूर्तरूप प्रदान किया है। संवेदनहीन पाठक के लिए बच्चन का यह त्रिपिटक किसी अनावश्यक रुदन के अतिरिक्त कुछ नहीं।

संदर्भ:

1. पाँच पुकार, मधुबाला, पृष्ठ-114
2. 5/45 सरस्वती कण्ठाभरण, धारेश्वर भोजदेव।
3. 4/50 दशरूपक, आचार्य धनंजय।
4. इस पार उस पार, मधुबाला, बच्चन, पृष्ठ-101
5. 1/2/15 वाल्मीकि रामायण।

6. सातवें संस्करण की भूमिका, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ-8
7. छठें संस्करण की भूमिका, 'एकांत-संगीत', बच्चन, पृष्ठ - 8
8. रात आधी हो गई है, निशा निमंत्रण, पृष्ठ – 72
9. साथी अंत दिवस का आया, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ – 26
10. साथी अंत दिवस का आया, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ – 26
11. आओ, सो जायें मर जायें, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ – 47
12. साथी घर-घर आज दिवाली, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ –51
13. साथी सो न, कर कुछ बात! निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ –60
14. अब वे मेरे गान कहाँ हैं, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ – 93
15. क्या भूलूँ क्या याद करूँ मैं, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ –116
16. साथी, साथ न देगा दुख भी, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ –120
17. साथी, नया वर्ष आया है, निशा निमंत्रण, बच्चन, पृष्ठ –70
18. छठें संस्करण की भूमिका, एकांत संगीत, पृष्ठ-7
19. गीत 60, आकुल अंतर।
20. छठें संस्करण की भूमिका, एकांत संगीत, पृष्ठ-12
21. गीत 58, एकांत संगीत।
22. गीत 1, एकांत संगीत।
23. गीत 40, एकांत संगीत।
24. छठें संस्करण की भूमिका, एकांत संगीत, पृष्ठ-17
25. गीत 100, एकांत संगीत।
26. गीत 1, आकुल अंतर।
27. गीत 4, आकुल अंतर।
28. गीत 69, आकुल अंतर।
29. गीत 70, आकुल अंतर।
30. गीत 65, आकुल अंतर।
31. गीत 73, एकांत संगीत।

संदर्भ ग्रंथ :

1. रामायण, महर्षि वाल्मीकि, गीता प्रेस गोरखपुर, संस्करण 2009
2. सरस्वती कंठाभरण, धारेश्वर भोजदेव, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, संस्करण 1934
3. दशरूपक, आचार्य धनंजय, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, संस्करण 1917
4. मधुबाला, हरिवंशराय बच्चन, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, आठवाँ संस्करण, अगस्त-1956
5. निशा निमंत्रण, हरिवंशराय बच्चन, भारती भंडार, लीडर प्रेस, पाँचवाँ संस्करण, जून-1946
6. निशा निमंत्रण, हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एंड संस, दिल्ली, संस्करण 2014
7. एकांत संगीत, हरिवंशराय बच्चन, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, पाँचवाँ संस्करण, नवंबर-1954

8. एकांत संगीत, हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एंड संस, दिल्ली, सातवाँ संस्करण, सितंबर 1964
9. आकुल अंतर, हरिवंशराय बच्चन, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, अप्रैल-1949

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
साकेत कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
काटेमानिवली,
कल्याण (पूर्व), ठाणे, महाराष्ट्र

8

बौद्ध जातक कथाओं की परम्परा : कुछ विचार

प्रो. उपुल रंजीथ हेवावितानागामगे

यह सर्वमान्य है कि **'जातक'** शीर्षक के अन्तर्गत आने वाली कथाएं बौद्ध धर्म की ही देन है। बौद्ध धर्म का प्रार्दुभाव ई. पू. छठवीं शताब्दी में हुआ था, जिसके संस्थापक गौतम बुद्ध थे। भारतीय धार्मिक इतिहास में ई. पू. छठवीं शताब्दी का विशेष उल्लेख इसलिए किया जाता है कि जहाँ ब्राह्मण धर्म होते हुए अनेक धर्मों तथा दार्शनिक विचारों की भारी चर्चा होती रही अथवा बौद्धिक उफान सक्रिय रहा, जो चीन, ग्रीस, ईरान आदि में देशों में भी द्रष्टव्य है।[1] उनमें से बौद्ध धर्म ने भारतीय धर्म परम्परा को नया आयाम अवश्य दिया था,[2] जिसे वर्तमान में भी एक विश्वीय धर्म के रूप में मान्यता दी जाती है।[3]

व्युत्पात्त की दृष्टि से प्राय: सभी विद्वान एक ही मत पर सहमत होते हैं कि **'जातक'** शब्द संस्कृत **'जात'** शब्द से उत्पन्न हुआ है, जो संस्कृत **'जन'** धातु से विकसित है और जिसका अर्थ **'जन्म'** कहा जाता है।[4] आर. सी. चइल्डर्स के विवरण का उल्लेख करते हुए बी. सी. लो कहते हैं कि **'जातक'** शब्द का अर्थ **'जन्म'** या **'उत्पत्ति'** है, अपितु बौद्ध साहित्य में इसका अर्थ कुछ हद तक पृथक हो गया है, जैसे कि **'पूर्व जन्म या पूर्व अस्तित्व'**। **'जातक कथा'** का अर्थ यह हुआ है कि **'गोतम बुद्ध के पूर्व-जन्मों या पूर्व-अस्तित्वतों से सम्बन्धित कथा'**।[5] विन्टनिट्स के विवरण में यह कहा गया है कि **'गौतम बुद्ध के अतीत भवों के जन्मों से सम्बन्धित कथा याने बोधिसत्त कथा'**[6] **'जातक'** कहलाता है।[7] गोकुलदास दे का कहना है कि मूलत: **'जातक'** शब्द का अर्थ वह कथा है, जिसमें बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कुछ नैतिक तत्व निरूपित हैं।[8] फिर भी, **'जातक'** शब्द युगीन परिस्थितियों तथा पश्चातकालीन भिक्षु सम्प्रदायों के अनुसार विभिन्न अर्थ अपनाते हुए दिखाई देते हैं।[9] यद्यपि साधारणत: **'जातक'** का अर्थ **'बोधिसत्व की जन्म-कथा'** है, तथापि इसका उपयोग त्रिपिटक (विनय, सुत्त, अभिधम्म) याने बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों याने पालि-धर्म-ग्रन्थों (Buddihst Canon/Pāli Canon) के सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत आने वाले 15 ग्रन्थो[10] में दसवें स्थान पर उपस्थित **'जातक'** याने **'जातकपालि'** का परिचय देने के लिए भी किया गया है[11], जिसमें केवल एसी गाथाएं ही हैं, उनसे सम्बन्धित गद्य कथा के बिना उनका कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता। सिंहली भाष में **'जातक'** शब्द का उपयोग उस पूरे ग्रंथ के लिए किया गया है, जिसमें कथा, गाथाएँ तथा उन पर की गयी टीका (भाष्य) अन्तर्गत आती हैं।[12] यह मानना अनुचित नहीं होगा कि पुर्व-जन्म-सिद्धान्त बौद्ध-धर्म की केन्द्रीय अवधारणा या संकल्पना होने हेतु उससे सम्बन्धित कथाओं को **'जातक'** नाम इसलिए दिया गया होगा कि जिसमें **'उत्पत्ति'** या **'जन्म'** का अर्थ स्पष्टत: निरूपित है। यह भी विदित होता है कि **'जातक'** का अर्थ युगीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा हो।

वस्तुत: एक कथा-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से जातक का मूल प्राग-बौद्ध-युग तक निश्चित किया जाता है। इसमें एक ओर भरतीय धर्म

परम्पराओं में धर्मोपदेश दिये जाने की प्रक्रिया में विद्यमान सादृश्य पर ध्यान आकर्षित किया जाता है। अन्यतः भारतोय लोक साहित्य परम्परा से इसका अभिन्न सम्पर्क दृष्टिगत होने पर भी चर्चा की जाती है।

वेदों के प्रारम्भ से लकर, जिसका प्रादुर्भाव ई. पू. 1500 माना जाता है, लगभग 400 वर्षों में विद्यमान धर्म-परम्पराओं के धर्मोपदेश दिये जाने की विधि में तो सादृश्य अवश्य दिखाई पड़ता है। बोधगम्य कथाओं, गाथाओं या कविताओं आदि के माध्यम से शिक्षा दिलाने या गम्भीर धार्मिक विषयों को सर्वसाधारण करने की प्रथा न केवल तद्युगीन भारतीय धार्मिक परम्पराओं द्वारा अपनायी गयी, बल्कि विश्व के अन्य धार्मिक परम्पराओं ने भी।[13] गोकुलदास दे द्वारा प्रस्तुत तथ्यानुसार प्राग-बौद्ध-युग के साधारण ग्रामीण जनता को शिक्षा दिलाने हेतु चारणों ने आख्यानों का उपयोग किया था, जो गाथाओं के रूप में थे।[14] वैदिक परम्परा के अधीन आनेवाले वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण[15] आदि ग्रन्थों में इसी कथा-परम्परा से सम्बन्धित विभिन्न कथाएँ मिल जाती हैं।[16] यह कहना अनुचित न होगा कि ये सभी कथाएँ भी तत्कालीन लोक समाज में प्रचलित लोककथा परम्परा पर ही आधारित हैं।

प्राग-बौद्ध भारतीय समाज में ब्राह्मण-धर्म याने वैदिक-धर्म की स्थायिता निर्विवाद है। साथ-साथ, तद्युग में गैर-वैदिक श्रमण-सम्प्रदाय का अस्तित्व भी देखने को मिलता है, जो वैदिक-धर्म के प्रमुख विचारों से पूर्णतः पृथक था। ई. जे. तोमस का मानना है कि यही श्रमण-प्रथा याने श्रमण-संस्कृति भारतीय समाज की प्रारम्भिक अवधि से ही प्रचलित थी।[17] कुछ भारतविज्ञों का कहना है कि यह श्रमण-सम्प्रदाय, जिससे बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म सम्बद्ध हैं, प्राग-वैदिक तथा प्राग-आर्य माना जाता है।[18] जगदीशचन्द्र जैन के विचारानुसार श्रमण-संस्कृति मुख्यतः निवृत्ति प्रधान थी, जबकि वैदिक-धर्म प्रवृत्तिप्रधान। अतः निवृत्तिप्रधान श्रमण-संस्कृति से प्रवृत्तिप्रधान वैदिक-धर्म की ब्राह्मण-संस्कृति मेल नहीं खाती।[19] इस संस्कृति के अधीन मुख्यतः बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म दवारा कथाओं के सहारे अपने-अपने धार्मिक उपदेशों को अनुयायियों तक पहुँचाये जाने की प्रवृत्ति विद्यमान थी, जो विशेषतः भारत के पूर्व-क्षेत्र की लोकवार्ता पर आधारित थी।[20] लेकिन ये कथाएँ कैसी थीं? इस सन्दर्भ में जगदीशचन्द्र जैन कहते हैं कि "श्रमण-संस्कृति में अहिंसा, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, आत्मदमन, कर्म-सिद्धान्त और जाति-विरोध की मुख्यता प्रतिपादित की गयी है। अतः श्रमण-संस्कृति सम्बन्धी कथाएँ ब्राह्मणों के पौराणिक साहित्य पर आधारित न होकर सामान्य जीवन की लोकगाथाओं पर आधारित हैं।"[21] इस मत का समर्थन देनेवाला विन्टनिट्स का विवरण इस प्रकार है : "बौद्ध भिक्षुओं ने धर्मोपदेश देने के उद्देश्य से अनेक कथाओं, जैसे परी-कथा, पशु-कथा, चुटकुला इत्यादि का प्रयोग किया है।"[22] अधिकांशतः विद्वानों का यही मानना है कि जातक, उद्भव के रूप में तथा अन्तर्वस्तु के अनुसार पूर्णतया बौद्ध-धर्म से सम्बद्ध नहीं है, जिन्हें बौद्ध-धर्म के प्रचारकों द्वारा विस्तृत तथा समृद्ध लोक-वार्ता भंडार से गृहीत तथा रूपान्तरित किया गया है।[23] एल. डी. बार्नेट का कहना है कि अधिकांश कथाएँ सचमुच, गौतम बुद्ध से भी प्राचीन है, और प्राचीनतम भारतीय लोक साहित्य से सम्बद्ध है।[24] गोकुलदास दे के विचारानुसार भी जातक, प्राग-बौद्ध-युग के भारतीय लोक-वार्ता भण्डार से सम्बद्ध किया गया है।[25] रिस डेविड्स यह मानते हैं कि यह (जातक) सबसे प्राचीन, अतिशय

सम्पूर्ण तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण, वर्तमान में[1] उपलब्ध लोकवार्ता संकलन है।[26] इस सन्दर्भ में विन्टनिट्स द्वारा प्रतिपादित जातकों की अन्तर्वस्तु[2] पर आधारित विवरण पर ध्यान देना अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। उनके वर्गीकरणानुसार पशु-कथा, परी-कथा, चुटकुला, उपन्यास, नैतिक-कथा, कहावत, पावन आख्यान आदि इसमें अन्तर्गत हैं, जिनमें से कुछ का प्रादुर्भाव अंशतः बौद्ध-धर्म से सम्बद्ध है। और अधिकांशतः का सम्बन्ध भारतीय श्रमण-काव्य-सम्प्रदाय की मामूली सम्पत्ति से है।[27] इसका कारण बताते हुए वे आगे कहते हैं कि बौद्ध भिक्षुओं के रूप में जिन लोगों को संघ याने भिक्षु-समाज में प्रवेश होने का अवसर दिया गया, वे समाज के विभिन्न स्तरों के थे, जो मज़दूरों, कारीगरों तथा विशेष रूप से व्यापारियों से सम्बद्ध लोकप्रिय कथाओं तथा चुटकुलों से परिचित थे, और अन्यों, जिन्हें पुराने लोकगाथाओं, वीर-गानों का ज्ञान था, साथ-साथ ब्राह्मणों, वन्य-तापसों से पावन आख्यानों तथा पौराणिक कथाओं को सुननेवाले भी थे। बौद्ध-भिक्षुत्व प्राप्त किये जाने के पश्चात ऐसे लोगों द्वारा कालान्तर में अपने मन में रखी गयी स्मृतियों को धर्म से जोड़ दिये जाने की प्रवृत्ति सम्भव है।[28]

तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदायों पर इसी कथा-परम्परा के प्रभाव को सुस्पष्ट करते हूए जगदीशचन्द्र जैन कहते हैं कि लोक व्यवहार में प्रचलित कथाएँ किसी भू-भाग या क्षेत्र जैसे बन्धनों से मुक्त थीं, साथ-साथ किसी वर्ग, कुल, वर्ण आदि तक सीमित न रहीं। इन्हें किसी-न-किसी धर्म-गुरु या सन्त द्वारा अपनाया जा सकता था। बाद में यही कथाएँ उपदेशात्मक कथा साहित्य का अंग बनते हूए नैतिक-कथाओं के रूप में बदल गयीं, जो समकालीन सामाजिक माँग के अनूरूप हूई ह।[29] आनन्द कौसल्यायन थेरो ने यह अनुमान लगाया है कि "किसी अंश में तो अबौद्ध और बौद्ध साहित्य दोनों एक ही परम्परा के ऋणी हैं। प्राचीनकाल का कथा साहित्य आज की तरह स्पष्ट रूप से बौद्ध और अबौद्ध विभाग में विभक्त नहीं था। उस समय एक ही कथा ने बौद्धों के हाथों बौद्ध रूप और अबौद्ध कलाकारों के हाथों पड़कर अबौद्ध रूप धारण किया होगा।"[30] ऐसी कथा परम्परा के क्रमिक विकास का और एक संकेत बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों में ही दृष्टिगत होता है। उदाहरणतः सुत्तपिटक के दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग के अन्तर्गत आने वाले ब्रह्मजाल सुत्त में भिक्षुओं को प्रारम्भिक शील का विवरण देते हुए गौतम बुद्ध ने कहा है कि राजकथा, चोरकथा आदि व्यर्थ कथाओं को त्याग देना चाहिए।[31] **'पालि जातकट्ठकथा'** के प्रथम निपात में आने वाली चौथी कथा **'चुल्लसट्ठि जातक'** (No: 004) की वर्तमान कथा (पच्चुप्पण्णवत्थु) में एक ऐसी घटना द्रष्टव्य है। गौतम बुद्ध धर्म-सभा में पधारे और भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने पूछा कि "इस समय क्या कथा चल रही थी?" भिक्षुओं ने उत्तर दिया कि "भन्ते, यहाँ हम कोई फजूल बात (तिरश्चीन कथा) नहीं कर रह थे।"[32] पॉट्ठपादसुत्त में परिब्राजकों के एक परिवार में राजकथा, चोरकथा तथा ग्रामकथा आदि व्यर्थ कथाओं की चर्चा होने का उल्लेख मिलता है।[33] विनयपिटक के महावग्ग में उल्लिखित **'तिरच्छानकथा'** के अन्तर्गत बारह कथा-वर्ग आते हैं, जैसे राजकथा, चोरकथा, महामत्तकथा, सेनाकथा, युद्धकथा, अन्नपानवत्थुकथा, ञातिकथा, नगरजनपदकथा, इत्थिकथा, सूरकथा, समुद्दक्खा-यिकम, इतिभावभवकथा आदि।[34] इस सन्दर्भ में गोकुलदास दे का कहना है कि ऐसे ऐहिक विषयों का अध्ययन भिक्षुओं के लिए नहीं था, जिन्हें विहारों में आने वाले उपासकों को उपदेश देने हेतु

अपनाया गया होगा।[35] विन्टनिट्स के कथनानुसार विनयपिटक के अतिरिक्त सुत्तपिटक के दीघनिकाय में भिक्षुओं के बीच अधिक शोर के साथ सम्वाद को निषेध किया गया, जो एक दूसरे को राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, शस्त्रकथा, युद्धकथा, स्त्रीकथा, देव तथा भूतकथा, साहसिक-समुद्रयात्राकथा आदि सुनाते हैं।[36] अंगुत्तरनिकाय में, गौतम बुद्ध द्वारा घोषित एक-एक विषय में पारंगत भिक्षुओं और भिक्षुणियों की जो सूची दी गयी है, जिसमें धर्म-प्रवचन की कला में प्रमुख भिक्षु पुण्णमन्तानिपुत्त, कथा कहने की कला में निपुण भिक्षु कुमार कस्सप तथा पूर्वजन्म-विषयक प्रमुख भिक्षु सोभित आदि आते हैं।[37] इससे यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन कथा-सम्प्रदाय के अनुसार कथा कहने तथा कथा सुनने की प्रक्रिया को बौद्ध-धर्म ने पूरी तरह अपनाया है। और पुनर्जन्म-विषय प्रमुख होने से बौद्ध-धर्म के साथ **'जातक'** के सम्बन्ध का भी एक स्पष्ट तथ्य मिल ही जाता है। समग्रत: यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में प्रचलित ना-ना प्रकार के कथा-वर्गों से युक्त कथा-सम्प्रदाय होने की बात की पुष्टि अवश्य होती है। और इसी परम्परा से जातक का सम्बन्ध भी अवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

मानव समाज के प्रारम्भ से ही कर्म याने क्रिया (Action) की अच्छाई या बुराई के सन्दर्भ में चर्चा अवश्य होती रही, जो नीति-शास्त्र का विश्वीय सिद्धान्त बन गयी। प्रत्येक व्यक्ति की सभी क्रियाओं के फल अवश्य अच्छे या बुरे, इन दोनों में से किसी एक के अधीन आ गये। कहा जाता है कि प्रत्येक मानव समाज की नींव में अच्छाई तथा बुराई की संकल्पना अन्तर्निहित है, जो उस समाज की लोककथाओं में परिलक्षित होता है।[38] ई. जे. तोमस का मानना यही है कि प्रत्येक क्रिया के फल का निर्णय उसकी अच्छाई या बुराई की स्थिति पर निर्भर होती है।[39] यह कर्म-सिद्धान्त (Doctrin of Karma) सही और गलत संकल्पना का ही अत्यन्त विस्तृत प्रस्तुतीकरण मानना अनुचित नहीं है।

यह निर्विवाद है कि कर्म-सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म बौद्ध धर्म की केन्द्रीय-संकल्पना है। जातकों की विषयवस्तु का आधार भी यही है। उपर्युक्त प्रतिपादित **'जातक'** शब्द के अर्थ विवरणों में भी इस बात की पुष्टि की गयी। बुद्धत्व-प्राप्ति के पश्चात बोधिमण्डप पर गौतम बुद्ध द्वारा अपने विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते हुए भाषित निम्नांकित गाथा, **'उदान'** याने **'प्रीति-वाक्य'** से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है:

'अनेक जाति संसारं - सन्धा विस्सं अनिब्बिसं
गहकारकं गवेसन्तो - दुक्खाजाति पुनप्पुनं
गहकारक दिट्ठोसि - पुनगेहं न काहसि
सब्बा ते फासुका भग्गा - गहकूटं विसंखितं
विसंखार गतं चित्तं - तण्हानं खय मज्झगा ती।'[40]

'दु:खदायी जन्म बार-बार लेना पड़ा। मैं संसार में (शरीर रूपी गृह को बनाने वाले) गृह-कारक को पाने की खोज में निष्फल भटकता रहा। लेकिन गृह-कारक! अब मैंने तुझे देख लिया। (अब) तू फिर गृह-निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कड़ियाँ टूट गयीं, गृह शिखर-बिखर गया। चित्त निर्वाण प्राप्त हो गया; तष्णा का क्षय देख लिया।'[41]

बौद्ध-धर्म के अनुसार अनेक भवों में घूमने वाले सभी प्राणी प्रत्येक भव में अपने-अपने अच्छे-बुरे कर्मों के साथ ही चलते फिरते हैं। वर्तमान भव अतीत भव का ही अक्षुण्ण फल है। अन्यत: सभी घटनाएँ एक ही घटना-क्रम की ही कड़ियाँ होती हैं।

कर्म-सिद्धान्त की चर्चा केवल बौद्ध-धर्म

की ही देन नहीं है।[42] इसकी चर्चा **'बृहदारण्यक'** तथा **'छान्दोग्य'** उपनिषदों में भी उपलब्ध है।[43] फिर भी, बौद्ध-धर्म में कर्म-सिद्धान्त का विवरण न केवल उपनिषदों से पृथक ही था, बल्कि जैन-धर्म से भी।[44] बुद्ध काल में प्रचलित कर्म से सम्बन्धित अनेक विचारों के संकेत त्रिपिटक में ही मिल जाते हैं। सुत्तपिटक के दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग में आने वाले सामञ्ञफलसुत्त[45] में तत्कालीन आचार्यों द्वारा रजा अजातशत्रु के कर्म और फल से सम्बर्नधित प्रश्नों पर दिये गये विवरणों से विदित होता है कि कर्म-संकल्पना पर न केवल तत्कालीन धर्माचार्यों के बीच, बल्कि समाज के उच्चस्तरीय वर्ग से लेकर साधारण जनता तक अनवरत चर्चा होती रही।

कर्म-संकल्पना की चर्चा का प्रभाव तत्कालीन कथा-साहित्य पर अवश्य पड़ा। यह विशद है कि कर्म और फल के अच्छे तथा बुरे परिणामों के बारे में लोगों को बोध दिलाने हेतु कथाओं का उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। क्योंकि, यह एक ऐसा तरीका था, जिससे किसी मनुष्य के जीवन में घटी अच्छी या बुरी घटनाओं को लेकर कर्म और फल के परिणाम विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया जा सके। यहाँ पर गोकुलदास दे द्वारा प्रतिपादित तथ्य पर ध्यान देना उचित प्रतीत समझता हूँ। उनके मतानुसार बुद्ध-युग से लेकर प्रथम-धर्म-संगीति तक की अवधि में कर्म-संकल्पना पर बल देने वाली लोककथाएँ तथा लोकगाथाएँ लोकप्रिय थीं, उन्हें धर्म-ग्रन्थों में भी सम्मिलित किया गया था।[46]

कर्म और फल से सम्बन्धित लोककथाओं के सन्दर्भ में और एक तथ्य पर ध्यान आकर्षित करवाना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ, जिसके बारे में पहले किसी का ध्यान नहीं गया हो। आश्चर्य की बात यह है कि कुछ आदिवासी लोककथाओं में भी कर्म और फल के परिणामों की चर्चा हुई है। यह एक विशेष बात समझनी चाहिए। अमीर हसन तथा सीमिन हसन द्वारा सम्पादित Folktales of Uttar Pradesh Tribes संज्ञक ग्रंथ में ऐसी आदिवासी लोककथाएँ संगृहीत हैं, जिनमें कर्म और फल, पुनर्जन्म तथा पाप और पुण्य विषयक लोककथाएँ आती हैं,[47] जो जातकां की अन्तर्वस्तु से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या कर्म-सिद्धान्त की चर्चा श्रमण-धर्म, उपनिषद आदि से भी पुरानी है? यदि यह ऐसा होता है तो हमें इतिहास के अन्धकार कोणों को उज्जवलित करने का एक नया प्रकाश अवश्य मिल जाएगा। लोककथाएँ एक **'वकल्पिक इतिहास'** मानी जाती हैं। ऐसी दृष्टि से देखा जाए तो, आदिवासियों की लोककथाओं पर ध्यान देने से यह पता चल जाएगा कि भारतीय कथा साहित्य लोककथा सम्प्रदाय से किस तरह प्रभावित हुआ है, और विशेषत: जातकों का लोककथा सम्प्रदाय से किस प्रकार का सम्पर्क रहा। कृष्णदेव उपाध्याय ने ऐसा अनुमान लगाया है कि **'बृहतकथा'** के रचयिता गुणाढ्य पंडित ने मूल रूप में कथाओं को उन लोगों से सुना होगा, जो नगर से दूर रहने वाले ग्रामीण या वन्य लोग थे।[48] क्या इससे भी लोककथा सम्प्रदाय में आदिवासियों के योगदान का संकत मिलता है?

आशा है कि भावी अनुसन्धानककर्ता इस विषय-क्षेत्र की ओर अपना ध्यान आकर्षित करें। इस सन्दर्भ में जगदीशचन्द्र जैन अपने ग्रंथ Pra:krit Narrative Literature में संकेत दिया है कि आदिवासियों के क्षेत्रों में, –विशेषत: पश्चिम बंगाल, बिहार तथा उडोसा– एक विस्तृत पर्यवेक्षण अवश्य किया जाना चाहिए।[49] इसका तात्पर्य यह होगा कि एक तुलनात्मक अध्ययन से भारतीय कथा साहित्य इतिहास की सीमाओं को और भी विस्तृत किया जाए। समग्रत: यह स्पष्ट होता है कि जातकों

के उद्भव के सन्दर्भ में भारतीय लोककथा एवं गाथा परम्पराओं का अनन्य योगदान अवश्य रहा हो।

टिप्पणियाँ

1. Sixth century B. C. was remarkable for the spiritual unrest and intellectual ferment in many counties. In China we had Lao Tzu and Confucius, in Greece Parmendes and Empedocles, in Iran Zarathustra, in India Mahavir and Buddha. In that period many remarkable teaches worked upon their inheritance and developed new points of view. ...
   Bapat, P. V. (Edi.) (1977) 2500 years of Buddhism [Forward by Radhakrishnan] p. v; *Cf.* Vaidya, P. L. 'Origin of Buddhism', *In* 2500 years of Buddhism (1977) Bapat, P. V. (Edi.) pp. 8-17; शर्मा, हरद्वारी लाल (1990) **लोकवार्ता विज्ञान I**, पृ. 319; Singhal, D. P. (1972) **India and World Civilization**, **Vol. I**, pp. 17-18
2. Having taken stock of the trends of philosophical speculations before the coming of the Buddha, it will now be clear why he thought of a new faith which at once caught the imagination of the people and was accepted by millions.
   Vaidya, P. L. 'Origin of Buddhism', *In* **2500 years of Buddhism** (1977) Bapat, P. V. (Edi.) pp. 8-17
3. ...however, largely the Brahmans, Jains and other sects might have contributed to Indian narrative literature. Buddhism alone pressed forward far beyond the limits of India as a world-religion, thus diffusing Indian civilisation and literature far and wide in all countries of the East and West...
   Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 154
4. See, Monier-Williams, Monier (1986) **Sanskrit-English Dictionary**, p. 417
5. Law, B. C. (1930) **A Study of Mahāvastu**, p. 4
6. यह शीर्षक केवल बोधिसत्त संकल्प के उभरने के पश्चात प्रयोग में आया है।
7. Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 113
8. The word Ja:taka when used originally meant a story illustrating some moral with special reference to Buddhism.
   De, Gokuldas (1951) **Significnce and Improtance of Ja:takas**, p. 17
9. Ibid., pp. 66, 92-93
10. 1. खुद्दकपाठ 2. धम्मपद 3. उदान 4. इतिवुत्तक 5. सुत्तनिपात 6. विमानवत्थु 7. पेतवत्थु 8. थेरगाथा 9. थेरीगाथा 10. जातक 11. निद्देस 12. पटिसम्भिदामग्ग 13. अपदान 14. बुद्धवंस 15. चरियापिटक
    कौसल्यायन, भदन्त आनन्द (अनु.) (1985) **जातक I**, पृ. 5
11. The 'Book of Ja:takas' however, is one of the fifteen collections of texts forming Khuddakanik:ya (collection of smaller texts) of the Thripiṭaka. This 'Ja:taka Book' consists of 'ga:tha:s' or stanzas only, amd is divided into 22 sections (nipa:ta) ...
    Winternitz, M. 'Ja:taka' *In* **Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. VII**, Hastings, James (Edi.) (1959) p. 491
12. The word Ja:taka is used in Sinhalese to mean the whole of text; the story, verses, and commentary on the verses.
    Godakumbure, C. E. (1996) **Sinhalese Literature**, p. 35
13. (a) जैन विद्वानों को कहानी कहने का

शौक था। वह इसलिए कि जन साधारण में अपने धर्म का प्रचार करन की उनमें लगन थी। विशुद्ध धार्मिक सिद्धान्तों का लोगों को रुचिकर होता नहीं, इसलिए वे उसमें किसी मनोरंजक वार्ता, आख्यान अथवा दृष्टान्त का समावेश कर उसे प्रभावकारी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।...

जैन, जगदीशचन्द्र (1971) **प्राकृत जैन कथा साहित्य**, पृ. 167

(b) ... while there are many points of difference between the sects. Śve:ta:mbara and Digambara shared their love of stories, which they often used to teach ethical concepts and even to illustrate abstruse points of doctrine. ...

Granoff, Phyllis (1998) **The Forest of Theives and the Magic Garden: An Anthology of Medieval Jain Stories**, p. 4

(c) ... even the stories incorporated in the older literary works like the Homeric poems and the Bible are regarded as records of folktales. ...

Mishra, Jayakantha (1951) **Introduction to the Folk Literature of Mithila (Part II - Prose)**, p. 15

14. ... In fact the 'Akkha:nas' in verse which were narrated and sung by the bards for the education of common people in villages from pre-Buddhistic times ...

De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist Samgha**, p. 38

15. ... भारत में जो यह विश्वास प्रचलित है कि पुराण वेदों की व्याख्या करते हैं, बिना पुराणों के वेद समझे नहीं जा सकते, यह बिलकुल निराधार नहीं। लोक-दृष्टि से वैदिक देवों की व्याख्या पुराणों में देखी जा सकती है। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि वेदों की बीज कहानियाँ ही पुराणों की कथाओं में पल्लवित-पुष्पित हुई है।...

सत्येन्द्र (1949) **ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन**, पृ. 396

16. सांकृत्यायन, राहुल : उपाध्याय, कृष्णदेव (संपा.) (1959) **हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास**, षोडष भाग, [प्रस्तावना] पृ. 21, 110

17. Ascetic practices are found in very early stages of society. They appear in connection with ideas of tabu, or the sanctity of the priest and wonder worker and the exercise of magic. These have no necessary connection with any particular type of religious belife, and in the earliest known form of religion in India little of an ascetic tendency appears. ...

Thomas, E. J. (1953) **History of Buddhist Thoughts**, p. 11

18. ... some indologists have suggested that it has a history going far back as pre-vedic times. ...

Wijebandara, Chandima (1993) **Early Buddhism: Its Religious and Intellectual Milieu**, p. 4

19. जैन, जगदीशचन्द्र (1971) **प्राकृत जैन कथा साहित्य**, पृ. 95

20. .... Jains and Buddhists used the folklore of Eastern India for the purpose of religious edification. ... Twaney, C. H. (Tr.) (1985) **The Katha:ko:ṣa or Treasury of Stories**, [Intro.], p. xvii

21. जैन, जगदीशचन्द्र (1971) **प्राकृत जैन कथा साहित्य**, पृ. 96

22. Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 114

23. (a) Rahul Thero, Telwatte (1978) **A Criticle Study of Maha:vastu**, p. 88
(b) Geiger, Wilhelm (1956) **Pa:li Literature and Language**, p. 32

24. ... perhaps most of these tales are really older than the Buddha, and

belong to the oldest folklore of India.
Feer, M. L. (1963) **A Study of the Ja:takas : Analytical and Critical**, p. ?

25. De, Gokuldas (1951) **Significnce and Improtance of Ja:takas**, p. 2
26. ... it is the oldest, most complete, and most important collection of folklore extant. Davids, T. W. Rhys (1973) **Buddhist Birth Stories**, [Intro.] pp. iii-iv
27. ... all of whcih are only partly of Buddhist origin, while many of them belong to the common property of Indian ascetic poetry. ...
Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 125
28. ... The Buddhist monks were recruited from all classes: hence, there were many among them who were quite familiar with the popular tales and anecdotes of the workers, artisans and especially merchants; others, who knew well the old ballads and heroic songs of the warriors and yet others, who had often heard the sacred legends and myths of the brahmans and forest hermits. When they became monks, they endeavoured as far as possible to connect these memories with the monkish and purely religious traditions. ...
Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 125
29. ... These stories were free from any sectional or regional touch and not bound by any caste, creed or colour, they could be accommodated by any religious teacher or saint. Later, these tales were transformed into the tales of morality forming a part of didactic literature due to the social demand of the time.
Jain, Jagdishchandra (1981) **Pra:krit Narrative Literature**, p. 181
30. कौसल्यायन, भदन्त आनन्द (अनु.) (1985) **जातक I**, पृ. 25
31. सांकृत्यायन, राहुल (1992) **पालि साहित्य का इतिहास**, पृ. 17
32. कौसल्यायन, भदन्त आनन्द (अनु.) (1985) **जातक I**, पृ. 149; *Cf.* Cowell, E. B. (Edi.) (2001) **The Ja:taka**, p. 18; **पन्सिय पणस् जातक पॉत् वहन्से** (2001) (सि.) p. 73
33. सांकृत्यायन, राहुल (1992) **पालि साहित्य का इतिहास**, पृ. 31
34. .... (1) Tales of kings (Ra:jakatha:), (2) Tales of robbers (Cho:rakatha:), (3) Tales of ministers (Maha:mattakatha:), (4) Tales of war (Se:na:katha:), (5) Tales of battels (Yuddhakatha:), (6) Tales of food, drink and clothes (Annapa:navattukatha:), (7) Tales of relations and acquaintances (Ńa:tikatha:), (8) Tales of villages and towns (Nagarajanapadakatha:), (9) Tales of women (Ittikatha:), (10) Tales of heros (Su:rakatha:), (11) Speculations about creation of the land or sea (Samuddakkha:yikam), (12) Discussions about the existence or non-existence of the self (Itibha:vabhavakatha:). De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist Samgha**, p. 38
35. ... It can fairly be assumed that such knowledge of worldly things was ordinarily imparted to laymen who came to the Viha:ra in quest of them for earning their livelihood in the world. ... (It must be definitely understood that these subjects were never meant for Bhikkhus and that those who were in charge of them merely discussed them with a view to bringing out their morals.)
De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist**

Samgha, p. 38: *Cf.* Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 114

36. ... The more rigorous Buddhist Theras of the older days do not seem to have been greatly in favour of this story-telling, for several passages of the canon (Vinayapiṭaka, Maha:vagga V 6.3; Di:ghanika:ya I, 17; IX, 3; XXV. 2; 21) speak disapprovingly of the loud conversation of the monks, who tell one another stories of kings, robbers, ministers, arms, wars, women, god and spirits, sea-faring adventures etc.
Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 114
37. De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist Samgha**, pp. 37-38
38. (a) ... The concept of right and wrong, found in every human society, is best reflected in folktales. ...
Mukharji, Priyadarshi (1999) **Chinese and Tibetan Societies Through Folk Literature**, p. xix
(b) The Menesians also ascribed the creation of the world to two bird-brothers. One brother was wise and kind, and he created fertile earth; the other, who was stupid and mean, did his best to spoil it.
Dimitriyev, Yuri (1988) **Man and Animals**, p. 20
39. ... Any act as judged by its results may be good or bad. This is a far wider conception than the question of right and wrong. ...
Thomas, E. J. (1953) **History of Buddhist Thoughts**, p. 107
40. **पन्सिय पणस् जातक पॉत् वहन्से** (2001) (सिं.) p. 30
41. कौसल्यायन, भदन्त आनन्द (अनु.) (1985) **जातक I**, पृ. 94
42. People were discussing karma before the time of the Buddha, of course. The idea of karmic fruits, however, was not generally recognized at that time. These vague ideas of karma were incorporated into Buddhism and systematically interpreted in a uniquely Buddhist manner as a law of cause and effect. ... Akira, Hirakawa (1990) **A History of Indian Buddhism**, p. 18
43. McDermott, James Paul (1984) **Development in the Early Buddhist Cencept of Kamma/Karma**, pp. 1-2; *Cf.* Akira, Hirakawa (1990) **A History of Indian Buddhism**, p. 18
44. Wijebandara, Chandima (1993) **Early Buddhism : Its Religious and Intellectual Milieu**, pp. 162-166
45. सांकृत्यायन, राहुल (1992) **पालि साहित्य का इतिहास**, पृ. 19.23
46. De, Gokuldas (1951) **Significnce and Improtance of Jātakas**, p. 66
47. Hasan, Amir and Hasan, Seemin (1982) **Folktales of Uttar Pradesh Tribes**, pp. 30-31, 46-47, 117-118
48. ... संस्कृत में विशाल कथा साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि गुणाढ्य की 'बृहतकथा' तथा सोमदेव के 'कथासरितसागर' में जिन कथाओं का संकलन हुआा है, वे वास्तव में लोककथाएँ ही थीं, जो इस देश में विभिन्न प्रदेशों में फैली हुई थीं। कथासरितसागर की प्रस्तावना में बताया गया है कि इन कथाओं का मूल वक्ता कोई अभिशप्त गन्धर्व था, जो शापवश विन्ध्याटवी में आ गया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गुणाढ्य पण्डित ने मूल रूप में इन कथाओं को नगर से दूर रहने वाले ग्रामीण या वन्य लोगों से सुना होगा। ...
सांकृत्यायन, राहुल : उपाध्याय, कृष्णदेव

(संपा.) (1959) **हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास**, षोडष भाग, [कृष्णदेव उपाध्याय कृत प्रस्तावना] पृ. 7-8 ; *Cf.* Twaney, C. H. (Tr.) (1968) The Ocean of Story, Vol. I, [Forward by R. C. Temple], pp. xi-xxvi

49. A fresh attempt should be made to make a through survey of the tribal areas, particularly in the regions of West Bengal, Bihar and Orissa.
Jain, Jagdishchandra (1981) **Pra:krit Narrative Literature**, p. 201

लघु संकेत :

_ = संवृत्त 'अ' (ə) जातक (**ja:təkə**)
(अनु.)= अनुवाद
(सिं.) = सिंहल/सिंहली भाषा
(Edi.) = Editor

चेयर, सीनियर प्रोफेसर ऑफ हिंदी स्टडीज,
यूनिवर्सिटी ऑफ केलानिया,
श्रीलंका

9

The Burden of History in Postcolonial Literature

Dr. Kamala Lakshmi Naiker

Abstract

This paper is a discussion on how the historical labour migration has played an influential role in postcolonial literature. A country's present and future is heavily dependent on the type of past it had. This stands as the country's history which has a lot to say about its past; its burden remains and is passed on from generation to generation. With the help of postcolonial texts, this burden is kept alive. In Fiji, the history is heavily dominated by the indenture system and the labour migration of Indians. The Indians in Fiji had to live and work in extremely harsh conditions, yet by far the majority of these labourers made Fiji their home, even when they had an option of being repatriated to India at the end of their contracts. All these bittersweet experiences of the indentured labourers have been very carefully penned by proclaimed Fijian postcolonial writers. Till date, Indians in Fiji are living with the burden of their past and are constantly reminded about these twitching memoirs at various instances. The paper will shed discuss works by reflective Fijian writers like Subramani, Vijay Mishra, Brij V. Lal, Satendra Nandan, Ken Gillion and Rajendra Prasad to name a few who have kept an account of the details of historical labour migration of the Indians.

Keywords : burden, history, labour migration, postcolonial, colonialism.

Introduction

The Burden of History in relation to Fiji would be incomplete without some discussion on the History of the Indian Indentured Labourers in Fiji. Slavery was abolished in the British Empire in 1833. After that date, Indians were recruited in various ways, usually foul, to work in the very plantations that the freed slaves had hastily left. The conditions of employment were stated on a form of agreement – *girmit* – in English, Hindi and Urdu in North India and in Tamil, Telugu and Malayalam in the South. Girmit is a corrupt word for the English Word 'Agreement'. A labour emigrating under the Agreement or Girmit was a *girmitiya*. All girmitiyas were not literate and disguised under 'voluntary' recruitment, in reality they were made to sign contracts, typically by affixing a thumb impression and arrived in Fiji crossing the dark, dreaded seas, the *Kala Pani*, to the 'King Sugar' colony Fiji. They cleared the Fiji jungle, made roads and tramlines for sugar transportation.

This Indenture System, an inhumane system, or the Labour System or a New Kind of Slavery was introduced in Fiji in 1879 by Sir Arthur Hamilton Gordon, the first governor of the colony (1875-80) in line with his native policy to protect the Fijian way of life and with his bid to establish Fiji as a viable economy. He believed that imported labour would protect the native population from the damaging effects of industrial agriculture (Gillion, 1962: 1-18). The first 'cargo' of 464 Indian immigrants arrived on the ship *Leonidas* in May 1879. The arrival of Indian labour together with the Colonial Sugar Refinery Company in 1880 ensured the economic slavery of the colony without prejudice to the Fijian traditional hierarchical structures as perceived by Governor Gordon. Some 61,000 *girmitiyas* arrived in Fiji between 1879 and 1916.

Fiji born descendants of Indian indentured labourers have researched to record the predicaments of their ancestors in far-flung abodes. The heart-rending records of Vijay Mishra's *Rama's Banishment* (1979); *The Diasporic Imaginary and the Indian Diaspora*

(2005); Subramani's *The Indo-Fijian Experience in Fiji* (1979); Vijay Naidu's *The Violence of Indenture in Fiji* (1980); Ahmed Ali's *Girmit* (1979); *Plantation to Politics* (1980) and *The Indenture Experience in Fiji* (1981); and Brij Lal's *Girmitiyas, the Origin of the Fiji Indians* (1983) speak volumes about the traumatic Indenture System, and its consequences. For the indentured labourers, life seemed to be one of hopeless degradation. The life of *girmityas* was full of tension, turmoil and uncertainty. The *girmityas* survived amidst all these struggles. The main argument in the paper is that for contemporary Indo-Fijians the burden of history that they have inherited from indenture is the burden of interpretation.

The Burden of History

There are two common tools in writing history and making fiction. These are two genres of writing that the educated Indo-Fijians have engaged in significantly to make sense of their past, first the use of language; and secondly, constructing narratives. Another important fact is they have used the language of the colonizer, that is, the English language to write fiction and history, not the vernacular Hindi. This is another burden for Indo-Fijians: to master the English language as a second language to depict their complex fate and to communicate that to the wider world. Where they have used Hindi or any other language, their works would have remained relatively unknown not only to the rest of the world but also in their own community.

Moreover referring to a historian and a fiction writer; Brij Lal and Subramani to examine how they have endeavored to explore their past, one can say that both have written extensively about indenture or what is popularly called 'girmit'. The historian and the writer of fiction come to their subject through two different routes. The historian's quest is to be empirical and objective; the fiction writer, on the other hand, aspires to make his/her narrative as real as possible by using some of the techniques of the historian, for example the documentary mode of presentation. It is interesting to observe closely how a historian works with his material. Here is Brij Lal writing about the wreck of one of the indenture ships, the *Syria* in 1884:

At 8.30 pm on Sunday, 11 May 1884, the Indian immigrant ship *Syria* was wrecked on the Nasalai reef. By the time the ship-wrecked passengers were brought to safety, fifty-six immigrants and three lascars (Indian seamen) had drowned… (Lal, 1979).

Brij Lal uses a lot of documentary evidence from the archives to reconstruct this very early history of indenture. He comes to a very interesting conclusion at the end of his article which was published by Subramani in his book *The Indo-Fijian Experience* (1979): "The subsequent story of the surviving *Syria* immigrants cannot be told with certainty. However, from the available records it appears that after two weeks of rest from the exhaustion suffered during the ordeal, the indentured labourers and their children were taken from the Nukulau Depot to Suva … "So how can the subsequent story of the surviving *Syria* immigrants" be told if there is 'uncertainty". The historian turns to the poet Satendra Nandan to invoke the memory of that experience:

"O my father's fathers
What forgiveness is there for me?
O my children's children
Listen to the voices from *Syria*
Drowning the silence of the sea."
(Nandan, 2006: 54).

It is not surprising that historian has turned to writing fiction by experimenting with what is called 'faction' where fact and fiction come together.

The history of indenture was from the beginning reported as a story of suffering and oppression. The writings of the only author who emerged from the indenture system, Totaram Sanadhya, portrayed the suffering and oppression of the indentured system in Fiji. The inhumanness of Indo-Fijian indenture has attracted the most attention globally from the early years of the twentieth century. The Indian indenture system as a whole came

under severe criticism from missionaries, humanitarian groups and activists in the Indian nationalists' movement. The activists C.F. Andrews and William Pearson caused uproar in India, as did the earlier invaluable eyewitness accounts by the *ex-girmitiya*, Totaram Sanadhya. In his book *My Twenty-one Years in the Fiji* Islands, Sanadhya, an Indian-born political activist, pundit and social worker wrote about his appalling experiences as a *girmitiya*. Their reports contributed to the abolition of the Indian Indenture System by Britain. The system was terminated in 1916, and in Fiji, the remaining contracts of indenture were cancelled on 1 January 1920. His accounts were used by nationalists in India to agitate for the abolition of the indenture system that involved Mahatma Gandhi.

Ken Gillion's *Fiji's Indian Migrants* (1962) deals with the origins and background of the indentured Indians, their recruitment, conveyance and employment, the regulation of the system in Fiji and its eventual abolition. *Fiji's Indian Migrants* remains one of the more enduring works of Pacific history (Munro, 1999: 97). Shiu Prasad', indentured labourer's oral history of indentured labourers drew heavily on Gillion for contextualizing information. These were also posthumously published (1974). The evocative *Turn North-East at the Tombstone* by Walter Gill (1970) is like Totaram Sanadhya's *My Twenty-one Years in the Fiji Islands*. Hugh Tinker who spoke fluent Hindi and who was interested in Indian diaspora, visited all the major places of Indian habitation and documented his research in *A New System of Slavery* (1974). He argued that "indenture was an unmitigated disaster for those caught in its coils" (Munro, 1999: 98).

Vijay Mishra says, "All diasporas are unhappy, but every diaspora is unhappy in its own way" (1996: 189). Though his roots are in India for an Indian in the diaspora, he still feels an outsider or a foreigner in his homeland. Mishra (1996) further claims that the real history of diaspora is always contaminated by social processes and, in the end, by nationalist forces that govern diasporic subjects' lives. The idea of the lost homeland is triggered by the question in whatever form it is asked and the trauma repeats; it reinforces the imaginary and darkens consciousness of a racial collective as one sharing space with others, devoid of exclusivists and dominating power (Boyarin and Boyarin, 1993: 713 cited in Mishra, 2005: 12). No doubt, The Yolk of Burden is heavy with pitiful emotions but we should remember the good things as well. The perceptive imaginative writers know the sense of freedom that many indentured Indians felt in a new country, the laughter and camaraderie they enjoyed as *jahajibhais*, and the music and the songs that sustained them through whatever difficulties they faced. The bond between these *jahajibhais*, the brotherhood of the crossing, was emotionally powerful and intimate as real blood kinship, which they cherished even after the abolition of Indenture System. Our culture was kept alive by our ancestors in those laborious years. This gives us a great depth of meaning to living.

The writers of narratives and history have illuminated and enriched the lives of the descendants of indentured labourers throughout the world and redeemed, the stigma that the indentured labourers probably felt: that they were the rejects of the Indian subcontinent. Indeed, quality of ancestry reflected strongly in subsequent generations and the descendants of the indentured labourers has a proud record of success, wherever they now live. This growing diaspora, many of whom comprise the largest ethnic groups in *girmit* countries, have over the years become a significant force in the development of their countries. They have left a mark in their settled lands, controlling big businesses, and are involved in both local and national level politics. Countries like Fiji, has all had Indian descendants leading them, shaping policies and affecting their communities. This tremendous growth is a reflection of the dynamism present within the community.

Subsequently, proclaimed author Rajendra Prasad has also penned the plights of

indentured Indians in his book *Tears in the Paradise* which published in 2006. The writer mentions about the squalid living and working conditions for the indentured men and women, forced on them via their white masters. In a newspaper article that published in 2015, Prasad stated that "Physical violence like whip was ritually used and both men and women suffered the whips and other forms of gruesome violence from the white planters" (Prasad, 2015). Many innocent lives were lost through suicide, sickness and sufferings. However, the Indo-Fijian community emerged with its own language, culture, customs and traditions. Folklores were sung by the *girmitiyas* that narrated the sufferings in a unique way. These folklores are sung till date and with that, the burden of our history lives on. Progress has steeped in and many Indian diaspora's have moved on with time. Yet, the oral and written narrations of our ancestors that had captured the trauma of Indian indentureship passed on to us via our grandparents and proclaimed writers lives till date.

Indian indentured women can be regarded as the most powerful women in the history of Indentureship. From being shared between men to the trauma of working on farms during the peak month of their pregnancy, Indian women bore it all. Some even committed suicide due to the rigid sexual, physical and mental torture by the white men. However, women's voices were suppressed due to the overall existence of male dominance and patriarchy. Women who rebelled and tried to bring about a change were deemed as "bad women" (Mishra, 2016). One such narration is about Sukhrania, a young indentured laborer who engaged herself into prostitution. As such, the patriarchal idealization of women was challenged. Mishra (2016) claimed that Sukhrania had simultaneously rejected the informal social control imposed by Indian men in colonial Fiji and was therefore brutally chopped to death by her "*izzat*" conscious husband Lachminarain. This representation of women in the history haunts many diasporic women in Fiji till date. As for the modern women, challenging patriarchy is not a concern for many to an extent, however, the history and such treatment of women during indenture distresses many till date. Hence, literature plays a crucial role in reminding us about the sacrifices of our ancestors nevertheless, it also serves as a mode that captured the horrid reality and the ultimate burden of our history.

Conclusion

Historical indentured labour migration played an influential role in Postcolonial Literature by many postcolonial writers. The Indian diaspora was conveniently forgotten after its abolition in 1920. Their contribution to the country's economy was noted but not remembered because with it comes the remembrance of the harsh and inhumane conditions under which the Indians had toiled. Today, the Indian descendants of these Indentured labourers are all Fijians. Intense pain and sorrow emerges from the stories and histories that embody universal truths concerning colonization and the 'Girmit', the Burden of History and the Burden of Interpretation. The postcolonial writers have recreated the colonial experience with a deep sense of history. This paper has discussed exploitations of human rights took the form of deceitful recruitment practices, poor working and living conditions, forced labour, and debt bondage.

References

1. Andrews, C.F. and Pearson, W.W. 1916, *Fiji Indian Labourers, A Supplementary Statement,* Calcutta.
2. Gill, W. 1970, *Turn Northeast at the Tombstone,* Rigby: Adelaide.
3. Gillion, K. L. 1962, *Fiji's Indian Migrants,* Oxford University Press.
4. Lal. B. V. 1992, *Broken Waves; A History of the Fiji Islands in the Twentieth Century,* Honolulu: University of Hawaii Press.
5. Mishra, M., 2016. 'Your Woman is a Very Bad Woman': Revisiting Female Deviance in

Colonial Fiji. *Journal of International Women's Studies,* 17(4), pp. 67-70.
6. Mishra, V. 1979, *Rama's Banishment,* Heinemann, Auckland.
7. Mishra, V. 1995, *Indo-Fijian Fiction and The Girmit Ideology,* Asian Studies Institute, Wellington.
8. Naidu, V. 2004, *Violence of Indenture in Fiji,* Lautoka: Fiji Institute of Applied Studies.
9. Nandan, S. 2006, *The Diasporic Consciousness: From Biswas to Biswasghat,* The University of Fiji, Lautoka.
10. Nandan, S. 2007, *The Loneliness of Islands,* Ivy Press International, Nandi.
11. Sanadhya, T. 1991, *My Twenty-One Years in the Fiji Islands, translated and ed. by* John *12*. Dunham Kelly & Uttra Kumari Singh, Quality Print Limited, Suva.
13. Sharad, P. 1993, *Blackbirding: Diaspora Narratives and The Invasion of the Bodysnatchers, ed by* Vijay Mishra, SPAN Number 34-35.

Head of Department,
Language Literature and Communication Department,
The University of Fiji,
Saweni Campus, Lautoka.

10

दक्षिण एवं पश्चिम भारत में क्षेत्रीय विविधताओं के आधार पर रंगबंधक आधारित रंगाई–छपाई का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. प्रज्ञा पाठक

रंगबंधक रंगाई–छपाई का परिचय एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य : रंगबंधकों द्वारा रंगाई–छपाई हमारे देश की पुरातन परम्परा रही है। यह एक विशेष तकनीक को इंगित करता है जिसके अंतर्गत वस्त्रों को रंगाई–छपाई से पूर्व एक विशिष्ट विधि द्वारा तैयार किया जाता है। इसमें प्रकृति प्रदत्त जैविक पदार्थों का लेपन कपड़े पर किया जाता है तत्पश्चात रंजकों को वस्त्र पर अलंकरण के अनुरूप लगाया जाता है। इस प्रकार रंगबंधकों से मिश्रित होकर अभीष्ट रंजक चटकीली रंगतों के रूप में कपड़े पर उभर आता है। ये रंगबंधक रंगों के टिकाऊपन को बनाए रखने में सक्षम होते हैं।

रंगबंधक रंगाई–छपाई वस्त्र अलंकरण की एक ऐसी विधि है, जो आदिम सभ्यता के उदय से लेकर अब तक, निरंतर परिवर्तित और परिमार्जित स्वरूप धारण कर हमारे साथ यात्रा कर रही है। जब से मनुष्य ने पेड़ों की छाल, पत्तियां और पशुओं की खाल, इत्यादि को त्याग कर, वेश–भूषा के रूप में, बुने हुए वस्त्र धारण किये है, तब से वस्त्रकला के लिए उपयुक्त माध्यमों में, बदलती अभिरुचियों के साथ क्षेत्रीय विविधता का आयाम भी जुड़ गया। रशिया की वातावरणीय परिस्थितियों ने वहां फर के प्रयोग को बहुप्रचलित बनाया। यूरोप ने लाईनिन और ऊनी वस्त्रों के प्रयोग को परिस्थितिजन्य अनिवार्यता के कारण स्वीकार किया। मध्यवर्ती प्रदेशों में रेशम का प्रयोग अत्यंत लोकप्रिय हुआ। प्राचीन मिस्र ने लाईनिन के उत्पादन पर सिद्धहस्तता प्राप्त की। चीन कई शताब्दियों तक, रेशम के उत्पादन पर एकाधिपत्य जमाये रहा। इसी प्रकार पश्चिमी एशिया में, सीरिया से इंडोनेशियाई द्वीप समूहों तक और पूर्व में चीन तक सूत की खेती होती थी। यह नहीं कहा जा सकता है कि उस समय सूत के उत्पादन पर किसी एक देश का एकाधिपत्य था, जैसा कि रेशम के मामले में चीन का।[1]

रंग बंधकों का उपयोग प्राचीन काल से सूती वस्त्रों के लिए होता रहा है। ऑकर एकमात्र ऐसा रंग था, जिसे सूत द्वारा सरलतापूर्वक, अवशोषित कर लिया जाता था, किन्तु अन्य रंगों की आभाओं को प्राप्त करने के लिए, रंगाई से पूर्व कपड़े को रंगबंधकों के लेपन द्वारा तैयार किया जाता था। तत्पश्चात रासायनिक प्रतिक्रियाओं द्वारा, मनवांछित रंग में रंगाई की जाती थी। रंग बंधकों को कपड़े की पूरी सतह पर या निश्चित भाग पर कलम या ठप्पों की सहायता से लगाया जाता था। कपड़े की बुनाई सदैव सादी टैबी की होती थी[2], हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त रंगबंधक विधि द्वारा रंगा एक सूत का टुकड़ा रंगाई–छपाई की विधा का प्राचीन प्रमाण है। यद्यपि इस तकनीक का उपयोग विस्तृत क्षेत्र में होता था, पर भारत और ईरान दो प्रमुख केंद्र थे, जहाँ रंग–छपे वस्त्रों का उत्पादन होता था।[3] रंगाई के दो प्रमुख तरीकों में एक तो छींट (Block) द्वारा रंगाई थी, और दूसरी आरोपण तकनीक (Transfer method) द्वारा, जिसमें बाद में अभिकल्पों को कागज पर उतारा जाता था, और म्यूज़लिन–बैग की मदद से कपड़े पर छापा जाता था।[4]

जॉन इरविन और कैथरीन ब्रेट द्वारा *ओरिजिन ऑफ़ शीन्ट्ज़* नामक पुस्तक में, इन वस्त्रों के लिए विभिन्न शब्दावलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। पिन्तादो (पुर्तगाली), शीन्ट्ज़ (इंग्लिश), सीट्स (डच) और कलमकारी (ईरानी) भाषा के शब्द हैं, जो इन वस्त्रों के लिए उत्तर मध्यवर्ती काल में प्रयुक्त होते थे।[5] यूरोपियन लोगों ने मध्य काल के प्राकृत शब्द छींट से शीन्ट्ज़ शब्द का निर्माण किया। डच भाषा में, रंगे कपड़ों के लिए सीट्स और छपे कपड़ों के लिए, चीट्स शब्द का प्रयोग

प्रचलित हुआ। पुर्तगाली में पिन्तादो और फ्रेंच में, चित्ते शब्द तोइल्स पेंट्स (रंगे हुए) और तोइल्स इम्प्रीमिस (छपे हुए) को उद्‌बोधित करता है। 19वीं शती के पूर्वार्द्ध तक किसी भी प्रकार के छपे कपड़े का तात्पर्य, उत्तर में पटना और पश्चिमी तट में, गुजरात में छपे कपड़ों से लिया जाता था। भारत में इन्हें छींट, प्रिंटेड कैलिको और कलमकारी के नाम से जाना जाता था। दक्षिण भारतीय आन्ध्र प्रदेश की स्थानीय भाषा तेलुगू में इसे व्राथपनी कहा जाता है।[6]

भारत में रंगाई–छपाई के प्रचलित प्रकार :

श्रीमती पुपुल जयकर ने हस्त निर्मित इन रंगे–छपे वस्त्रों के विविध और व्यापक चरित्र के यथोचित अध्ययन के लिए एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जिसमें सभी प्रकार के मशीन निर्मित वस्त्रों को बहिष्कृत किया गया है। छपे हुए वस्त्र, जिन पर नमूनों (Motif) को, कपड़ों की बुनाई के पश्चात रंजक–द्रव्य[7] या रंगद्रव्य[8] की मदद से सतह पर अलंकृत किया जाता है। इन्हें अलंकृत करने की विभिन्न प्रविधियां निम्नांकित हैं;[9]

1. प्रत्यक्ष लेपन विधि द्वारा (Direct method)
2. प्रतिरोधक या नील रंगाई विधि (Resist-Indigo dying)
3. रंगद्रव्य या गाढ़े रोगन की लेपन विधि द्वारा (Mordant method)
4. रंगबंधक, मंजीठ, एलीज़रीन विधि द्वारा (Mordant, Alizerine discharge method)

रंगबंधक या एलीजरीन विधि में कपड़े को रंगाई से पूर्व विभिन्न रंगबंधकों से तैयार किया जाता है। कपड़े का वह हिस्सा जो रंगबंधकों के लेपन द्वारा पहले से तैयार किया होता है, रंगाई के दौरान रंजक पदार्थों से रासायनिक प्रतिक्रिया स्वरूप निश्चित रंग उत्सर्जित करता है। इनकी मदद से मनवांछित रंग की अनेक प्रकार की तानें निकाली जा सकती हैं। रंगबंधक और रंजक दोनों ही तूलिका या ठप्पों की सहायता से वस्त्र की सतह पर लगाये जाते हैं। निस्सारण विधि में कपड़े की पृष्ठभूमि को पहले मनपसंद रंग से रंग लिया जाता है, व नमूनों के अलंकरण के लिए रसायन को कपड़े की सतह पर लगाया जाता है, फलस्वरूप उस हिस्से से पृष्ठभूमि का रंग गायब हो जाता है।[10]

उपरोक्त सभी प्रकार की छपाइयां भारत में होती हैं। ब्लॉक और स्क्रीन छपाई प्रायः शहरों में होती हैं। इसमें अधिकतर रेशम, रेयान और सूती कपड़ों का प्रयोग होता है। रेशम पर निस्सारण विधि द्वारा छपाई कुछ बड़े शहरों तक सीमित है। नील, एलीजरीन या मंजीठ और रोगन रंगाई विधियाँ ज्यादातर गांवों में छीपाओं (छपाई करने वाले) द्वारा पारंपरिक शिल्प के बतौर प्रयुक्त होती हैं। ये छीपा प्रायः हिन्दू और मुस्लिम दोनों परिवारों से होते हैं। अधिकतर छपाई केंद्र प्रायः नदियों, तालाबों और कुओं के इर्द–गिर्द होते हैं, जिनके पानी में विशिष्ट प्रकार के रासायनिक तत्व जैसे एलम (फिटकरी) और कैल्शियम (चूना) आदि होते हैं। ये तत्व वानस्पतिक रंगों को गहरा और चटक बनाते हैं। पिछले एक दशक से मंजीठ के स्थान पर एलीज़रीन का प्रयोग होने लगा है, और नील के स्थान पर कृत्रिम नील का, जो कोल–तार का अनुत्पाद है। इन कृत्रिम रंगों के कारण वानस्पतिक रंगों की रंगाई लगभग गायब हो चुकी है, किन्तु तकनीकी दृष्टि से अभी भी पुरानी प्रविधियों का प्रयोग हो रहा है।[11]

रंगी–छपी भारतीय कलमकारी : रंग बंधकों द्वारा छपाई का सर्व प्रचलित उदाहरण कलमकारी है। शब्द कलमकारी का उपयोग, वस्तुतः था तो निर्माण की तकनीक से प्रेरित किन्तु समयांतराल के साथ अलंकरण के पारंपरिक बिम्बों से जुड़ गया। अग्रेज़ी में डाई पेंटेड एंड प्रिंटेड और हिंदी में रंगे–छपे वस्त्र का उद्‌बोधन करने पर, जो समस्या सामने आती है, वह, यह कि, इनके विविध स्वरूपों में, विषयवस्तु सम्बंधित विभेद स्पष्ट नहीं हो पाता है। यद्यपि कलम के अधिकाधिक प्रयोग के कारण इस शब्द का प्रयोग किया गया था, किन्तु अपने धार्मिक–पारंपरिक तथा लोक–प्रचलित स्वरूप के कारण कलमकारी शब्द शुद्ध व्यावसायिक अर्थों से काफ़ी–कुछ मुक्त रहा, यही कारण है कि रंगे–छपे वस्त्रों में धार्मिक अभिव्यक्ति की पहचान कलमकारी वस्त्रों के रूप में की जाती है, और ऊपर दिये गए, छींट, शीन्त्ज़ या अन्य शब्दों का प्रयोग इन वस्त्रों के शुद्ध व्यायसायिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। भारत और ईरान दोनों देशों में शताब्दियों से रंगबंधक और प्रतिरोधक रंगाई की तकनीकों का

ज्ञान मौजूद था। पश्चिमी भारत के समान ही, ईरानी शिल्पकार भी ठप्पों का प्रयोग रंजक–द्रव्यों के लेपन में करते थे। कलमकारी शब्द का, पहले–पहल उपयोग इन्ही शिल्पकारों द्वारा प्रयुक्त तकनीक के लिये किया गया। इन शिल्पकारों को छीट–साज़ कह कर संबोधित किया गया। मध्यकाल के दौरान गोलकोंडा कोरोमंडल समुद्रतटीय क्षेत्र व्यापारिक उद्देश्य से निर्मित इन वस्त्रों के लिए खासा प्रसिद्ध था। ईरानी–व्यापारी बाज़ार की तलाश में इन तटवर्ती दक्षिण–पूर्वी क्षेत्रों में आये और इस प्रकार सफाविद–ईरान व कुतुबशाही गोलकुंडा के मध्य व्यापारिक संबंधों ने कलमकारी तकनीक को भारत में भी लोकप्रियता प्रदान की। गुजरात और दक्षिण में, रंगे–छपे इन सूती वस्त्रों के लिए, कलमकारी शब्द का प्रयोग प्रचलन में तब आया, जब सफाविद ईरान से, भारत के व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ़ हुए। कुतुबशाही गोलकोंडा में, मसुलीपत्तम इन वस्त्रों के निर्यात का प्रमुख केंद्र था। गोलकुंडा के सुल्तान द्वारा कलमकारी को विशेष प्रोत्साहन दिया गया, और दक्षिण के कोने–कोने में ले जाया गया। साधारण सी कलम द्वारा असाधारण वस्त्रों का निर्माण करने वाले इन कलाकारों को सुल्तान ने, कलमकार और इनके द्वरा बनाए जाने वाले वस्त्रों को कलमकारी कहा।[12]

पश्चिम और दक्षिण भारत : पश्चिम और दक्षिण भारत में क्षेत्रीय विविधताओं और समानताओं के आधार पर रंग बंधक वस्त्रों का अध्ययन अनेक कोणों से किया जा सकता है। स्पष्टतः स्थान विशेष की भौगोलिक संरचना, सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ–साथ वहां की राजनयिक परिस्थितियां कलाकर्म को आतंरिक और वाह्य दोनों ही प्रकार से प्रभावित करती हैं। दक्षिण और पश्चिम दोनों ही स्थानों पर समुद्रतटीय विस्तार ने कलमकारी कलाकार के लिए उपयुक्त वातावरण मुहैय्या कराया। समुद्र के लवणीय जल और सूर्य के प्रखर प्रकाश के साथ वानस्पतिक रंगों के संयोग से चटकदार और पक्की रंगतों के निर्माण में दोनों ही जगहों पर शिल्पकार सिद्धहस्त रहा है। गुजरात और दक्षिण भारत, दोनों ही स्थानों पर वस्त्र–कला सम्बन्धी यूरोपीय गतिविधियों के अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। 17वीं शती में बढ़ती हुई वस्त्र–निर्यात की मांग के चलते, उत्पाद और विपणन केंद्र पश्चिम से दक्षिण की ओर विकेन्द्रित होने लगे। तब से, हस्त–शिल्प के क्षेत्र में इन वस्त्रों ने अपनी एक सुनिश्चित जगह बना ली है, जहाँ तकनीकी दृष्टि से भी कोई विशेष बदलाव दिखाई नहीं पड़ता है।

गुजरात और कोरोमंडल (आंध्र) दोनों ही स्थानों पर, सूत तैयार करने की विधि में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता है, किन्तु जहाँ एक ओर, गुजरात में, रंगबंधकों हेतु, लकड़ी के ठप्पों का प्रयोग प्रचलन में दीखता है, तो वही दूसरी ओर कोरोमंडल में प्राचीन स्थानांतरण तकनीक (ट्रांसफर तकनीक) और कलम या तूलिका (ब्रश) का प्रयोग बहुतायत से दिखाई पड़ता है। दोनों ही बाजारों के लिए बनायी जाने वाली कलमकारियों की रंग–रेखा और अभिकल्पों का अपना, मौलिक स्वरूप है, जो इन उत्पादों की बिक्री सुनिश्चित करता है। 17वी शती में बड़ी मात्रा में, व्यापारिक उद्देश्य से निर्मित किये जाने कारण, गुजरात से लेकर दक्षिण तक, इन वस्त्रों के स्वरूप में विविध और व्यापक विकास हुआ। पुरातन समय में गुजराती वस्त्र अफ्रीका, खाड़ी देशों और इंडोनेशिया, दोनों ही स्थानों पर समान रूप से लोकप्रिय हुए। कोरोमंडल और आंध्र के सूती वस्त्र, दक्षिणी समुद्र तट, मलेशिया, इंडोनेशिया और फिलीपीन्स में अधिक लोकप्रिय हुये। ये गुजराती उत्पाद, थोड़ी बहुत शैलीगत विविधता के अतिरिक्त, भारत के दक्षिण–पूर्वी समुद्र तट पर निर्मित होने वाले उत्पादों के समान प्रतीत होते हैं। यूरोपीय मांग के अनुरूप, मानवाकारों वाली कलमकारियां, कोरोमंडल के मंदिरों के लिए बनने वाली दृष्टान्त युक्त कलमकारियों का ही विकसित स्वरूप कही जा हैं। इन्हें पश्चिमी समुद्रतट में निर्मित होने वाले वस्त्रों से तुलनात्मक रूप से अलग रखा जा सकता है। जॉन इरविन ने इन्हें बुरहानपुर स्कूल के अंतर्गत रखा है। इसके अलावा अध्ययन के पश्चात ज्ञात होता है कि इस दौर में, वस्त्रकला के अभिकल्पीय सिद्धांतों और अलंकारिक कला में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के अलंकरणों के स्वरूपों के मध्य, पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती

है या कहें कि विभिन्न विधाओं में निर्मित हस्तशिल्पों के अलंकरणों का आदान–प्रदान दिखाई पड़ता है। रंगों की आभाओं के लिए सुगमता से प्राप्त क्षेत्रीय वनस्पतियां अलग–अलग होती थीं, जिनसे रंगों के चटकीलेपन पर भी प्रभाव पड़ता था। उदाहरण स्वरूप गुजरात में, गहरे लाल रंग के लिए प्रयुक्त होने वाला, अल मोरिंडा सिट्रीफोलिया (Al morinda citrifolia), कोरोमंडल में प्रयुक्त होने वाले, चाय, ओल्डेनलान्डिया अम्बेलेटा (Oldenlandia umbrellata) के समान रंगत उत्पन्न नहीं करता था।

कोरोमंडल उपक्षेत्र को भी तीन उपस्थानों में विभक्त किया जा सकता है, जहाँ कलमकारी का कार्य व्यापक पैमाने पर होता रहा है। मसुलीपत्तम के निकट, पुलीकत के निकट और तंजौर के आस–पास। कैलिको संग्रहालय में सुरक्षित सिंघली प्रभावयुक्त कलमकारी संभवतः तंजौर क्षेत्र में निर्मित हुई है, तथा कुछ–अन्य कलमकारियां श्री लंका के जाफ्ना क्षेत्र की बनी हुई प्रतीत होती हैं। यह प्रकल्पना प्राप्त सामग्रियों और चित्र षडंग के सिद्धांतों पर आधारित है। मसुलीपत्तम में व्यावसायिक उत्पादों के रूप में कलमकारी रही है, किन्तु पुलीकत और तंजौर दो प्रमुख केंद्र रहें हैं। जहाँ धार्मिक कलमकारियों का निर्माण अपनी शैलीगत मौलिकता लिए हुए है।[13]

तकनीकी दृष्टि से दक्षिण एवं पश्चिम में निर्मित होने वाली कलमकारियों में कपड़े को तैयार करने, रेखांकन, रंगबंधकों और रंगों के लेपन की विधि में कोई महीन अंतर नहीं दिखता है। मुख्य विभेद वहां प्राप्त स्थानीय सामग्रियों व विषयवस्तु सम्बन्धी अंकन ही है, जैसा कि पूर्ववर्ती अध्यायों में निर्दिष्ट है। उदाहरण स्वरूप गुजरात में कपड़े को तैयार करने के लिए ऊँट के गोबर व दूध का प्रयोग दीखता है, तो दक्षिण में भैस के गोबर व दूध का या कलम के लिए गुजरात में बबूल तो दक्षिण में बांस या पल्मीरा का प्रयोग दीखता है। गुजरात में सप्त्मातृकाओं का अंकन प्रमुखता से मिलता है। सप्त्मातृका सम्बन्धी आख्यान हमें वैदिक साहित्यों में भी मिलते हैं,[14] और लोक–जीवन में भी इन्हें अपनाया गया, किन्तु जाति या समुदाय की विशेष मान्यताओं और परिकल्पनाओं को ध्यान में रखते हुए। सप्त्मातृकाओं के शास्त्रीय स्वरूप से इतर इन्हें गुजराती लोक जीवन में, विभिन्न नामों और निर्धारित स्वरूपों के साथ पहचाना जा सकता है। जैसे चामुंडा, दशमा या दशमाता, हदक्षा या हद्कोई या हद्कई, हिंगलाज, विहत, जीवंतिका, भगवती, रांडल, मेदिली या मेलड़ी चंडी–चामुंडा, शक्ति, खोड़ियार, मीनावाड़ा दशमा, मोमई माँ, फूल जोगिनी माता, श्री गेल माता, वाहनवती या सिकोतार, वेराई विसोता, महाल्सा, शीतला कर्क माँ, आदि। स्वभाव में रूढ़ व रेखांकन में एक ठोस अनगढ़पन लिए ये आकृतियाँ दक्षिण की शास्त्रीयता की अपेक्षा लोक रेखांकन से अधिक सामीप्य रखती हैं। कारण इन्हें बनाने वाली जनजाति वाघरी एक यायावरी समुदाय रहा है, जिसके पास प्रतिदिन जीविकोपार्जन की आर्थिक चुनौती रही है।[15]

पछेड़ी निर्माण इनके लिए मात्र देवों का अलंकरण नहीं, बल्कि दिन–ब–दिन की चुनौतियों और जीवनी संकटों को हल करने का स्रोत है। ये उनकी आर्थिकी का भी स्रोत है, और दैनिक समस्याओं से निदान पाने भी। जबकि दक्षिण की कहानी कुछ अलग रही है। यहाँ कलमकारियां मंदिर की शास्त्रीय परम्परा और राजदरबारों के निकट काफी पहले ही आ गई थीं। विभिन्न राजवंशों और सुल्तानों के कला प्रेम ने यहाँ के कलाकारों को आर्थिक–सामाजिक सुरक्षा प्रदान कर जीवनी संकटों से काफी–कुछ मुक्त कर दिया था। कलाकार दिन–प्रतिदिन की चिंताओं से इतर यहाँ कलाकर्म पर पूरा ध्यान केन्द्रित करने में गुजराती यायावरों की अपेक्षा अधिक सफल रहा, यही कारण है कि यहाँ कलमकारी परम्परा नूतन प्रयोगों के साथ समृद्ध दिखाई पड़ती है। कलाकार की व्यक्तिगत स्वतंत्रता ने आकृतियों को किसी भी प्रकार की रूढ़ता से मुक्त करते हुए अधिक लोचात्मक और गत्यात्मक बानाया है। यद्यपि इसका एक प्रमुख कारण तकनीकी भी है। ठप्पों की अपेक्षा ब्रश के साथ रेखांकन करना कलाकार को हर बार मौलिकता और सिद्धहस्तता प्रदान करता है।

गुजरात और दक्षिण में, एक मुख्य विभेद यह भी है कि दक्षिण भारत की कलमकारियों में न

केवल हिन्दू धर्म बल्कि इससे इतर ईसाई और बौद्ध धर्म सम्बन्धी कथानकों को भी स्थान मिला है, जबकि गुजरात में जनजातीय देवी देवताओं के अतिरिक्त आज कल अगर कुछ नए कथानकों पर काम हो रहा है तो सिर्फ हिन्दू पौराणिक गाथाओं जैसे रामायण या महाभारत पर ही। इन तमाम बांतों के अलावा, संयोजन की दृष्टि से कोई विशेष विभेद नहीं दिखाई पड़ता है। दोनों ही स्थानों पर मुख्य विषयवस्तु के इर्द–गिर्द छोटे–छोटे खानों में विभाजित कर कथा का निरूपण किया गया है। वहीं दूसरी ओर पश्चिम और दक्षिण दोनों ही स्थानों पर, पारम्परिक विषयवस्तुओं से हट कर (जैसे पश्चिम में विभिन्न माताओं और दक्षिण में रामायण और भागवत जैसे काव्यों क अंकन सुरुचिपूर्वक अंकन, के साथ ही साथ) लोक–गाथाओं और नायक–नायिकाओं को भी विषयवस्तु बनाया गया है। उदारण स्वरूप, गुजरात में बाथेजी महराज और दक्षिण में माता गंगम्मा और मथम्मा की कर्मकांडी पूजा भी लोकप्रिय पर्व है। श्रीकलाहस्ती में माता मथम्मा का दस दिवसीय बड़ा उत्सव मनाया जाता है, जिसमें कलमकारियों का विशेष महत्व होता है। माता गंगम्मा और मथम्मा के लिए क्रमशः यादव जाति और आंध्रप्रदेश की मदिगास जाति कलमकारी कलाकारों से चित्रण करवाती है। गंगम्मा की पूजा पूर्णमासी को रात भर आनुष्ठानिक रूप से की जाती है। मदिगास कर्तवीराजुना नामक स्थानीय योद्धा नायक की अनुयायी जनजाति मानी जाती है।[16]

उपसंहार : वर्तमान समय में कलमकारियों का निर्माण परिदृश्य काफी कुछ बदल चुका है चाहे दक्षिण हो या पश्चिम, दोनों स्थानों पर कलमकारियां मात्र धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि स्थानीय बाजारों की व्यावसायिक मांग को ध्यान में रखते हुए निर्मित हो रही हैं। इनका प्रयोजन घर में पूजा पाठ से ले कर सजावट तक हो सकता है। मांगों में बदलाव के कारण इनकी विषयवस्तुओं में भी विविधता देखने को मिलती है। दक्षिण की तुलना में पश्चिम की कलमकारी आज भी धर्मिक उद्देश्यों के अधिक निकट है। इनका निर्माण प्रयोजन अधिकतम घर में टाँगे जाने या नवरात्रि आदि पर्वों में पूजा विधानों के लिए होता है, इसलिए विषयवस्तु सम्बन्धी विविधता का अभाव दीखता है। कथानकों में जो भी नवीन बदलाव हैं वो सप्तमातृकाओं के अलावा प्रचलित काव्यों जैसे रामायण या महाभारत की कथाओं पर आधारित हैं। जबकि दक्षिण में पौराणिक कथाओं या काव्यों से इतर भी अंकन किया गया है, जैसे पंचतंत्र ईसा और बुद्ध की कहानियां। प्रसिद्ध कलमकारी शिल्पकार पदमश्री गुरप्पा चेट्टी के अनुसार कलाकार को जब भी यहाँ नवीन प्रयोगों के लिए आमंत्रित किया गया, उसने चुनौतियों को स्वीकार करते हुए रुढ़िवादिता को तोड़ा और इस शिल्प में नए आयामों को जोड़ा, यद्यपि विषयवस्तुओं में बदलाव का एक कारण बदलती वस्तुगत स्थितियां और आर्थिक चुनौतियाँ भी रही हैं। माता–नी–पछेड़ी के कलाकार जगदीश चतारा भी विषयवस्तु सम्बन्धी नवीन प्रयोगों और अभिकल्पनाओं को साकार करने में विश्वास रखते हैं। कुल मिला कर जिन स्थानीय कलाकारों को संरक्षण और संवर्धन मिला उन्होंने पारंपरिक तौर तरीकों को आधुनिक चेतना के साथ सम्बद्ध करने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

सन्दर्भ सूची

1. वरदराजन, लोतिका. (1982). *साउथ इन्डियन ट्रेडिशन ऑफ़ कलमकारी.* अहमदाबाद. नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ डिजाइन. पृ0–14
2. उपरोक्त
3. वरदराजन, लोतिका. (1979). टुवार्ड्स द डेफिनीशन ऑफ कलमकारी. *होमेज टू कलमकारी.* मुम्बई. मार्ग प्रकाशन. पृ0–19
4. वही, पृ0–20
5. राय, जे0सी0. (1917). *जर्नल ऑफ बिहार एंड उड़ीसा रीसर्च सोसायटी.* पृ0–227,
6. *टेक्सटाइल इंडस्ट्री ऑफ एंसियेंट इण्डियाः जर्नल ऑफ द इन्डियन टेक्सटाइल इंडस्ट्री.* (1959). भाग–4, पृ0–227
7. जयकर, पुपुल. (1979). जायटी इन कलर एंड फॉर्म पेंटेड एंड प्रिंटेड क्लोद्स. *होमेज टू कलमकारी,* मुम्बई. मार्ग प्रकाशन, पृ0–23
8. रंगबंधक, रंगाई से पूर्व कपड़े पर लगाया जाने वाला रासायनिक तत्व, मौरडेंट
9. रोगन या डाई

10. जयकर, पुपुल, जायटी इन कलर एंड फॉर्म पेंटेड एंड प्रिंटेड क्लोद्स. *होमेज टू कलमकारी,* पृ0–23
11. उपरोक्त,
12. रमानी, शकुंतला. (2007). *कलमकारी एंड ट्रेडीशनल डिजाइन हेरिटेज ऑफ इण्डिया.* नई दिल्ली. विज़डम ट्री प्रकाशन. पृ0–39
13. वरदराजन, लोतिका. (1982). द प्राइमरी आर्टिज़न एंड टेक्सटाइल प्रोडक्शन; कास्ट एंड कम्यूनिटी इन गुजरात एंड साउथ इण्डिया, ले आउट, मोटिफ्स एंड कलर्स, *साउथ इन्डियन ट्रेडिशन ऑफ़ कलमकारी,* अहमदाबाद, नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ डिजाइन, पृ0–11
14. एरिक्सन, जे0. (1968). *माता–नी–पछेड़ी : अ बुक ऑन द टेम्पल क्लॉथ ऑफ मदर गॉडेस,* अहमदाबाद, नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ डिजाइन प्रकाशन, पृ0–30
15. वही, पृ0–28
16. रमानी, शकुंतला. (2007). *कलमकारी एंड ट्रेडीशनल डिजाइन हेरिटेज ऑफ इण्डिया.* नई दिल्ली. विज़डम ट्री प्रकाशन. पृ0–19

असिस्टेंट प्रोफेसरए
पी.आई.डी. पारुल यूनिवर्सिटीए
वड़ोदरा, गुजरात

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

Reg. No. 124726035RC0001
ISSN : 2562-6086
Price : $ 20.00 - Rs. 350

वर्ष 4, जुलाई–सितंबर 2022 अंक 3

पुस्तक भारती के प्रकाशन

स्वामी, प्रकाशक और मुद्रक : प्रो. रत्नाकर नराले,
पुस्तक भारती, टोरंटो, कनाडा, 180 Torresdale Ave. M2R 3E4 से प्रकाशित.
Email : pustak.bharati.canada@gmail.com * Web: pustak-bharati-canada.com